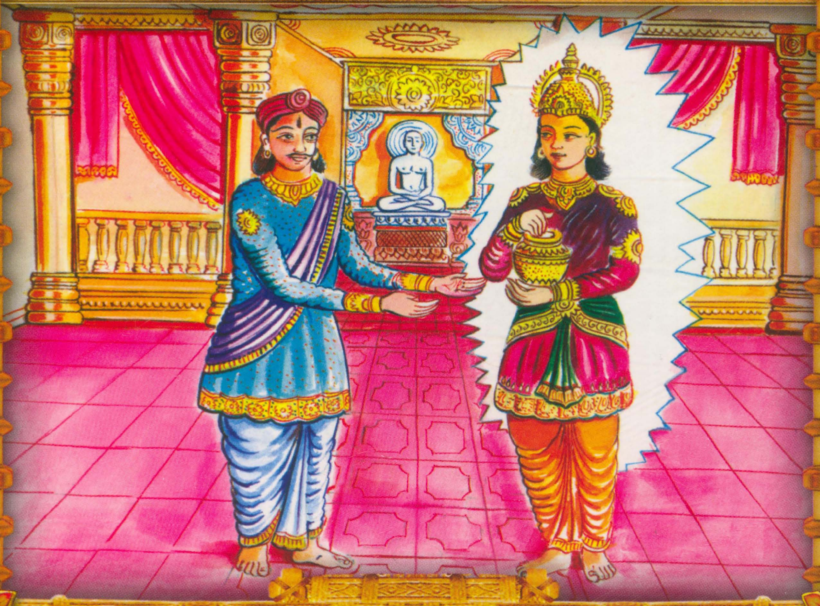

।। श्री कामघटकथानकम् ।।

।। श्री-गोडी-पार्श्वनाथाय नमः ।।

।। प्रभु-श्रीमद्विजय-श्रीराजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ।।

श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी संवर्द्धितम्

श्री-कामघट-कथानकम्

भाषांतर सहित

.. दिव्याशिष ..

श्रीविद्याचन्द्रसूरीश्वराः • श्रीरामचन्द्रविजयाः

.. संपादक ..

मुनिराजश्री-जयानन्द-विजयादिमुनि-मण्डलः

.. प्रकाशिका ..

गुरुश्री-रामचंद्र-प्रकाशन-समिति, भीनमाल, (राज.)

.. मुख्य संरक्षक ..

(१) श्री संभवनाथ राजेन्द्र सूरि जैन श्वे. मू. ट्रस्ट, विजयवाडा A.P.

कुंडुलवरी स्ट्रीट

(२) मुनिराज श्री जयानंद विजयजी आदि ठाणा की निश्रा में

वि. २०६५ में शत्रुंजय तीर्थे चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते

लेहर कुंदन ग्रुप

मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा

श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी बालगोता परिवार, मेंगलवा

(३) एक सद्गृहस्थ, भीनमाल

संरक्षक

(१) सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
के. एस. नाहर, २०१ सुमेर टॉवर, लव लेन, मझगांव, मुंबई-१०.

(२) मीलियन ग्रुप, सूराणा, मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा.

(३) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए, हनुमान टेरेस, दूसरा माला, ताराटेम्पल लेन, लेमीग्टन रोड, मुंबई-७. फोन : २३८०१०८६.

(४) श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई. महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना-३६४२७०.

(५) संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्रीश्रीमाळ, वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरू ज्वेलर्स, ३०५, स्टेशन रोड संघवी भवन, थाना (प.) महाराष्ट्र.

(६) अति आदरणीय वडील श्री नाथालाल तथा पू. पिताजी चीमनलाल, गगलदास, शांतिलाल तथा मोंघीबेन अमृतलाल के आत्मश्रेयार्थे चि. निलांग के वरसीतप, प्रपौत्री भव्या के अट्ठाई वरसीतप अनुमोदनार्थ दोशी वीजुबेन चीमनलाल डायालाल परिवार, अमृतलाल चीमनलाल दोशी पांचशो वोरा परिवार, थराद-मुंबई.

(७) शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचंद, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेष बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मेंगलवा, फर्म - अरिहन्त नोवेल्हटी, GF3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुरटंकशाला रोड, अहमदाबाद. पृथ्वीचंद अेन्ड कं.,तिरुचिरापली.

(८) थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमुलखभाई परिवार.

(९) शा कांतीलाल केवलचंदजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६३ में पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते.

(१०) 'लहेर कुंदन ग्रुप' शा जेठमलजी कुंदनमलजी मेंगलवा (जालोर)

(११) २०६३ में गुडा में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार, प्रिन्केश,

द्रव्य सहायक

शासन दीपिका प्रवर्तिनी
साध्वीजी श्री मुक्तिश्रीजी

वि. सा. श्री
कीर्तिप्रभाश्रीजी

शा वक्तावरमलजी चुनीबाई,
बाबुलालजी वक्तावरमलजी के आत्मश्रेयार्थ,
शासन दीपिका प्रवर्तिनी साध्वीजी
श्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्या
सा. श्री कीर्तिप्रभाश्रीजी
(हमारे संसारी भुआ-सा) के पुण्य स्मृति में
महेन्द्रकुमार, दीलिपकुमार,
विमलेश, कमलेश सियाना.

विजयवाडा

केनित, दर्शित चुन्नीलालजी मकाजी काशम गौत्र त्वर परिवार गुडाबालोतान् जयचिंतामणि १०–५४३ संतापेट नेल्लूर–५२४००१ (आ.प्र.)

(१२) पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार, अशोककुमार मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता शा. पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुडाबालोतान् 'नाकोडा गोल्ड' ७०, कंसारा चाल, बीजामाले, रूम नं. ६७, कालबादेवी, मुंबई–२

(१३) शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) राजरतन गोल्ड प्रोड. के. वी. एस. कोम्प्लेक्ष, ३/१ अरुंडलपेट, गुन्टूर A.P.

(१४) एक सद्गृहस्थ, धाणसा.

(१५) गुलाबचंद डॉ. राजकुमार, निखीलकुमार, बेटा पोता परपोता शा छगनराजजी पेमाजी कोठारी, आहोर, अमेरिका : ४३४१, स्कैलेण्ड ड्रीव अटलान्टा जोर्जिया U.S.A.–३०३४२. फोन : ४०४–४३२–३०८६/६७८–५२१–११५०

(१६) शांतिरूपचंद रविन्द्रचंद, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी महेता जालोर, बेंगलोर.

(१७) वि.सं.२०६३ में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री थानमलजी मातुश्री सुखीदेवी, भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल, मित्तुल, आशीष, हर्ष, विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजीमुथा, शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एन्ड को. राम गोपाल स्ट्रीट, विजयवाडा. भीवंडी, इचलकरंजी

(१८) बाफना वाडी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार, रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर, बेटा पोता चंपालाल सांवलचन्दजी बाफना, भीनमाल. नवकार टाइम, ५१, नाकोडा स्टेट न्यु बोहरा बिल्डींग, मुंबई–३.

(१९) शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार, बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.) राजेन्द्र मार्केटींग, पो.बो.नं.१०८, विजयवाडा.

(२०) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज. राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४–रहेमान भाई बि. एस. जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई–३४.

(२१) पूज्य पिताजी श्री सुमेरमलजी की स्मृति में मातुश्री जेठीबाई की प्रेरणा से जयन्तिलाल, महावीरचंद, दर्शन, बेटा पोता सुमेरमलजी वरदीचंदजी आहोर, जे. जी. इम्पेक्स प्रा.लि.-५५ नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-७९.

(२२) स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी की स्मृति में हस्ते परिवार बाकरा (राज.)

(२३) मुनिश्री जयानंद विजयजी की निश्रा में लेहर कुंदन ग्रुप द्वारा शत्रुंजय तीर्थे २०६५ में चातुर्मास उपधान करवाया उस समय के आरधक एवं अतिथि के सर्व साधारण की आय में से सवंत २०६५.

(२४) मातुश्री मोहनीदेवी, पिताश्री सांवलचंदजी की पुण्यस्मृति में शा पारसमल सुरेशकुमार, दिनेशकुमार, कैलाशकुमार, जयंतकुमार, बिलेश, श्रीकेष, दीक्षिल, प्रीष कबीर, बेटा पोता सोवलचंदजी कुंदनमलजी मेंगलवा, फर्म : **Fybros Kundan Group**, ३५ पेरुमल मुदली स्ट्रीट, साहुकार पेट, चेन्नई-१. चशपसरश्रुर, **Chennai, Delhi, Mumbai.**

(२५) शा सुमेरमलजी नरसाजी - मेंगलवा, चेन्नई.

(२६) शा दूधमलजी, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग, ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२

(२७) कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गौतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रविन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३१-३A पार्क रोड, विजयवाडा, सिकन्द्राबाद.

(२८) शा नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेष, निलेष, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रींकेश, यश, मीत, बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.) कलांजली ज्वेलर्स, ४/२ ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(२९) शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रविणकुमार, दिलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया मोदरा (राज.) गुन्टूर.

(३०) एक सद्‌गृहस्थ (खाचरौद)

(३१) श्रीमती सुआदेवी घेवरचंदजी के उपधान निमित्ते चंपालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, नीखील, हर्ष, जैनम, दिवेश बेटा पोता घेवरचंदजी सरेमलजी दुर्गाणी बाकरा. हितेन्द्र मार्केटींग, **11-X-2-Kashi**, चेटी लेन, सत्तर शाला कोम्प्लेक्स, पहला माला, चेन्नई-७९.

(३२) मंजुलाबेन प्रवीणकुमार पटीयात के मासक्षमण एवं स्व. श्री भंवरलालजी की स्मृति में प्रवीणकुमार, जीतेशकुमार, चेतन, चिराग, कुणाल, बेटा पोता तिलोकचंदजी धर्माजी पटियात धाणसा. पी.टी.जैन, रोयल सम्राट, ४०६-सी वींग, गोरेगांव (वेस्ट) मुंबई-६२.

(३३) गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुंबई, विजयवाडा, दिल्ली.

(३४) राज राजेन्द्र टेक्सटाईल्स, एक्सपोर्टस लिमीटेड, १०१, राजभवन, दौलतनगर, बोरीवली (ईस्ट), मुंबई, मोधरा निवासी.

(३५) प्र. शा. दी. वि. सा. श्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्या मुक्ति दर्शिताश्रीजी की प्रेरणा से स्व. पिताजी दानमलजी, मातुश्री तीजोबाई की पुण्य स्मृति में चंपालाल, मोहनलाल, महेन्द्रकुमार, मनोजकुमार, जितेन्द्रकुमार, विकासकुमार, रविकुमार, रिषभ, मिलन, ह्रितिक, आहोर. कोठारी मार्केटींग, १०/११ चितुरी कॉम्पलेक्ष, विजयवाडा.

(३६) पिताजी श्री सोनराजजी, मातुश्री मदनबाई परिवार द्वारा समेतशिखर यात्रा प्रवास एवं जीवित महोत्सव निमित्ते दीपचंद उत्तमचंद, अशोककुमार, प्रकाशकुमार, राजेशकुमार, संजयकुमार, विजयकुमार, बेटापोता सोनराजजी मेघाजी कटारीया संघवी धाणसा. अलका स्टील ८५७ भवानी पेठ, पूना-२.

(३७) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६६ में तीर्थेन्द्र नगरे-बाकरा रोड मध्ये चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते हस्ते श्रीमती मैतीदेवी पेराजमलजी रतनपुरा वोहरा परिवार-मोधरा (राजस्थान)

(३८) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६२ में पालीताना में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते शांतीलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार विजयकुमार, श्री हंजादेवी सुमेरमलजी नागोरी परीवार-आहोर.

(३९) संघवी कांतिलाल, जयंतिलाल गणपतराज राजकुमार, राहुलकुमार समस्त श्रीश्रीश्रीमाल गुडाल गोत्र फुआनी परिवार आलासण. संघवी इलेक्ट्रीक कंपनी, ८५, नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-६०० ०७९.

(४०) संघवी भंवरलाल मांगीलाल, महावीर, नीलेश, बन्टी, बेटा पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार आलासन. राजेश इलेक्ट्रीकल्स ४८, राजा बिल्डींग, तिरुनेलवेली-६२७ ००१.

(४१) शा. कान्तीलालजी, मंगलचन्दजी हरण, दांसपा, मुंबई.

(४२) शा भंवरलाल, सुरेशकुमार, शैलेषकुमार, राहुल बेटा पोता तेजराजजी संघवी

कोमतावाला भीनमाल, एस. के. मार्केटींग, राजरतन इलेक्ट्रीकल्स – २०, सम्बीयार स्ट्रीट, चेन्नई–६०००७९.

(४३) शा समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.) अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन ब्राडी पेठ, गुन्टूर–२.

(४४) शा गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेस, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा–पोता रतनचंदजी नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज.) – फूलचंद भंवरलाल, १८० गोवींदाप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नई–१

(४५) भंसाली भंवरलाल, अशोककुमार, कांतिलाल, गौतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा पोता लीलाजी कसनाजी मु. सुरत. फर्म : मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५ एस. एस. जैन मार्केट, एम. पी. लेन, चीकपेट क्रोस, बेंगलोर–५३.

(४६) बल्लु गगनदास विरचंदभाई परिवार, थराद.

(४७) श्रीमती मंजुलादेवी भोगीलाल वेलचन्द संघवी धानेरा निवासी. फेन्सी डायमण्ड, ११ श्रीजी आर्केड, प्रसाद चेम्बर्स के पीछे, टाटा रोड नं.१–२, ऑपेरा हाऊस, मुंबई–४.

(४८) शा शांतिलाल उजमचंद देसाई परिवार, थराद, मुंबई. विनोदभाई, धीरजभाई, सेवंतीभाई.

(४९) शा भंवरलाल जयंतिलाल, सुरेशकुमार, प्रकाशकुमार, महावीरकुमार, श्रेणिककुमार, प्रितम, प्रतीक, साहील, पक्षाल बेटा पोता–परपोता शा समरथमलजी सोगाजी दुरगाणी बाकरा (राज.) जैन स्टोर्स, स्टेशन रोड, अंकापली–५३१ ००१.

(५०) बंदा मुथा शांतिलाल, ललितकुमार, धर्मेश, मितेश, बेटा पोता मेघराजजी फुसाजी ४३, आइदाप्पा नायकन स्ट्रीट, साहुकार पेट, धाणसा हाल चेन्नई–७९.

(५१) श्रीमती बदामीदेवी दीपचंदजी गेनाजी मांडवला चेन्नई निवासी के प्रथम उपधान तप निमित्ते. हस्ते परिवार.

(५२) श्री आहोर से आबू–देलवाडा तीर्थ का छरि पालित संघ निमित्ते एवं सुपुत्र महेन्द्रकुमार की स्मृति में संघवी मुथा मेघराज, कैलाशकुमार, राजेशकुमार, प्रकाशकुमार, दिनेशकुमार, कुमारपाल, करण, शुभम, मिलन, मेहुल, मानव, बेटा पोता सुगालचंदजी लालचंदजी लूंकड परिवार आहोर. मैसुर पेपर सप्लायर्स, ५, श्रीनाथ बिल्डींग, सुल्तान पेट सर्कल, बेग्लोर–५३.

(५३) एक सद्गृहस्थ बाकरा (राज.)

(५४) माइनोक्स मेटल प्रा. लि., (सायला), नं. ७, पी. सी. लेन, एस. पी. रोड क्रॉस, बेग्लोर-२, मुंबई, चेन्नई, अहमदाबाद.

(५५) श्रीमती प्यारीबाई भेरमलजी जेठाजी श्रीश्रीश्रीमाल अग्नि गौत्र, गांव-सरत.

सह संरक्षक

(१) शा तीलोकचंद मयाचन्द एन्ड कं. ११६, गुलालवाडी, मुंबई-४

(२) स्व. मातृश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी जालोर. प्रविण एण्ड कं. १५-८-११०/२, बेगम बाजार, हैदराबाद-१२.

(३) श्रीमती फेन्सीबेन सुखराजजी चमनाजी कबदी धाणसा, गोल्डन कलेक्शन, नं-५ चांदी गली, ३रा भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२.

(४) १९९२ में बस यात्रा प्रवास, १९९५ में अट्ठाई महोत्सव एवं संघवी सोनमलजी के आत्मश्रेयार्थे नाणेशा परिवार के प्रथम सम्मेलन के लाभ के उपलक्ष्य में संघवी भबुतमल जयंतिलाल, प्रकाशकुमार, प्रविणकुमार, नवीन, राहुल, अंकूश, रितेश नाणेशा, प्रकाश नोवेल्टीज्, सुन्दर फर्नीचर, ७९४ सदाशीव पेठ, बाजीराव रोड, पूना-४११ ०३० (सियाणा)

(५) सुबोधभाई उत्तमलाल महेता धानेरा निवासी, कलकत्ता.

(६) पू. पिताजी ओटमलजी मातुश्री अतीयाबाई प. पवनीदेवी के आत्मश्रेयार्थ किशोरमल, प्रवीणकुमार (राजु) अनिल, विकास, राहुल, संयम, ऋषभ, दोशी चौपड़ा परिवार आहोर, राजेन्द्र स्टील हाउस, ब्राडी पेठ, गुन्टुर (A.P.)

(७) पू. पिताजी शा प्रेमचंदजी छोगाजी की पुण्यस्मृति में मातुश्री पुष्पादेवी. सुपुत्र दिलीप, सुरेश, अशोक, संजय वेदमुथा रेवतडा, (राज.) चेन्नई. श्री राजेन्द्र टॉवर नं.१३, समुद्र मुद्दाली स्ट्रीट, चेन्नई.

(८) पू. पिताजी मनोहरमलजी के आत्मश्रेयार्थ मातुश्री पानीदेवी के उपधान आदि तपश्चर्या निमित्ते सुरेशकुमार, दिलीपकुमार, मुकेशकुमार, ललितकुमार, श्रीश्रीश्रीमाल, गुडाल गोत्र नेथीजी परिवार आलासण. फर्म : M. K. Lights, ८९७ अविनाशी रोड, कोइम्बटूर-६४१ ०१८.

पूर्व सम्पादकीय

आज यह 'कामघट कथानक' हिन्दी-अनुवाद-युक्त छपवाकर प्रकाशित किया जा रहा है। इसके प्रणेता कोई माननीय प्राचीन जैनाचार्य हैं। कुछ वर्ष पूर्व श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने जैन और जैनेतर भारतीय आचार्यवर्यों के उपदेश-प्रद सूक्तियों को इसमें यथास्थान जोड़कर इसको कुछ परिवर्द्धित रूप में प्रकाशित करवाया था।

आज की बुद्धि की बाहरी-ऊँची-उड़ान के युग में हमारी आध्यात्मिकता अधिक दब गयी है और हम सदाचार से अलग होकर मानवता से कोशों दूर हो गये हैं। हमारा साहित्य-निर्माण भी सदाचार रहित, गंदे, अश्लील, विलासिता-पूर्ण होता जा रहा है। नतीजा यह है कि स्वर्ग के सहोदर भारत भूमि में सर्वत्र आज हाय-हाय का कुहराम मचा हुआ है। पर, अब वे दिन अधिक दूर नहीं कि जब विश्व के मानव सदाचारी बनकर सत्य और अहिंसा की शरण ले।

वास्तव में मानव जीवन का प्रथम सुदृढ़ सोपान सदाचार है, सदाचार ही मानव जीवन-भित्ति की बेजोड़ मजबूत नींव है। सदाचार में ज्ञान और क्रिया के संयोग के साथ-साथ बाह्य-शुद्धि और अन्तः शुद्धि का समन्वय है। सदाचार में आत्म-कल्याण भावना के साथ-साथ देश, समाज, राष्ट्र और विश्व के कल्याण-भावना का भव्य भाव निहित है। सदाचार से प्रेय और श्रेय की प्राप्ति होती है। सदाचार भू-कल्प-तरु है। सारांश यह कि- आदर्श मानव जीवन का सार संसार में सदाचार ही है।

सदाचार ही को धर्म या पुण्य कहते हैं और बुरे आचरण को दुष्कृत या पाप कहते हैं। पाप का परिणाम दुःख और पुण्य का परिणाम सुख होता है, यह एक सार्वभौम-मान्य-मानव-सिद्धान्त है।

प्रस्तुत पुस्तक पापबुद्धि राजा और धर्मबुद्धि मन्त्री के बहाने पाप-पुण्य के कथानक रूप में लिखी गयी है, जो मानव जीवन को सफल बनाने के लिए, मानवों

को सदाचारी बनने के लिए अवश्य ही प्रोत्सारित करती है ।

इसमें मुख्यतः दो ही कथाएँ हैं । दोनों का उद्देश्य एक ही है- मानव समाज में धर्मबुद्धि का यानी सदाचार का प्रचार और पापबुद्धि का अर्थात् दुष्टाचार का निरोध । पहली कथा में सदाचारी, आस्तिक, भगवद्-भक्ति-निष्ठ मन्त्री ने पापबुद्धि राजा को धर्म में श्रद्धालु बनाने के लिए सब कुछ त्यागकर विदेश गया और वहाँ अपने सदाचरण के प्रभाव से इच्छित फल दाता 'कामघट' को प्राप्त करके उसके प्रभाव से राजा को चमत्कृत कर धर्म-निष्ठ बनाया, इसीलिए, इस कथा का नाम 'कामघट कथानकम्' हुआ । दूसरी कथा में पुनः अपरिचित दूर देश में जाकर सदाचार के ही बदौलत अधिक प्रभावशाली होकर मन्त्री ने धर्म-निष्ठा में बची खुची शंका को दूरकर राजा को दृढ़ धर्मनिष्ठ बना दिया । यही कथा का सार है । इसमें मानव जीवनोपयोगी उपदेशप्रद सरल-सुन्दर भाव-गर्भित अनेक श्लोक भी हैं, जिनसे पुस्तक की सुन्दरता सुवर्ण में सुगंध की तरह और बढ़ गयी है ।

संस्कृत में पुस्तक के होने से सर्व साधारण को इसके लाभ से वञ्चित होते देखकर सत्साहित्य के प्रचार और प्रसार के चिराकांक्षी समाज-सेवी श्रीयुत इन्द्रचन्द्र नाहटा ने इसका हिन्दी-अनुवाद करने को मुझे सस्नेह अनुरोध किया था । उसी का परिणाम स्वरूप यह समाज की साहित्यिक सेवा के लिए तैयार है ।

सहृदय-विधेय

गङ्गाधर मिश्र

नागरी साहित्य संघ कलकत्ता में श्री इन्द्रचन्द्र नाहटा के तत्त्वाधान में हिन्दी अनुवाद सहित यह 'कामघट कथानक' छपा था इसे श्री गुरु रामचंद्र प्रकाशन समिति भीनमाल संस्था ने साभार पुनः प्रकाशित करवाया है । पाठक गण लाभान्वित बनें ।

कोरा २०६८ — *यही*

वैशाष सुद-२ — *जयानंद*

पूर्वसुविहितगीतार्थसंदर्भितम् ।

ततो जैनाचार्य-श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरेण सवृद्धिसंस्कृतं पापबुद्धिनृप-धर्मबुद्धिमन्त्रिणोः पापपुण्यमन्तव्यफलसूचकम् ।

।। श्री-कामघटकथानकम् ।।

ॐनमोऽखिलसिद्धेभ्यः, सद्गुरुभ्यस्तु सर्वदा।
जिनास्योत्पन्नभाषायै, ज्ञानदा या सदाङ्गिनाम् ।।१।।

सब सिद्धों को नमस्कार हो, सद्गुरुओं को तो हमेशा नमस्कार हो । जो प्राणियों को ज्ञान देने वाली है, ऐसी जिनेश्वर के मुख से निकली हुई भाषा (जिनवाणी) को नमस्कार हो ।।१।।

उद्वाहे प्रथमो वरः किल कलाशिल्पादिके यो गुरु-
र्भूपश्च प्रथमो यतिः प्रथमकस्तीर्थेश्वरश्चादिमः ।
दानादौ वरपात्रमादिजिनपः सिद्धा यदम्बादिमा,
सच्चक्री प्रथमश्च यस्य तनयः सोऽस्त्यादिनाथः श्रिये ।।२।।

विवाह में जो प्रथम वर हुए, कला-शिल्प आदि में जो प्रथम गुरु हुए और सर्व प्रथम राजा और यति हुए जो पहले तीर्थेश्वर हुए, दानादि के विषय में जो सब से पहले श्रेष्ठ पात्र हुए और जो सब से पहले जिनेश्वर हुए और जिनकी माता सिद्धात्माओं में पहली सिद्ध हुई है और जिनका पुत्र प्रथम चक्रवर्त्ती (भरत) है, वे भगवान आदिनाथ श्री (सुख-सम्पत्ति) के लिए हो ।।२।।

इत्थमादौ मङ्गलाचरणं कृत्वाथ किञ्चिद्धर्ममहिमानं दर्श-

यति।

इस तरह आरंभ में मंगलाचरण कर के अब कुछ धर्म की महिमा को दिखलाते हैं,

यथा- जैसे :-

धर्मश्चिन्तामणिः श्रेष्ठो, धर्मः कल्पद्रुमः परः ।
धर्मः कामदुधा धेनुः, धर्मः सर्वफलप्रदः ॥३॥

धर्म चिन्तामणि के समान श्रेष्ठ है, धर्म दूसरा कल्पवृक्ष है, धर्म कामधेनु है, धर्म सब कुछ (अच्छा) देने वाला है ।।३।।

धर्मतः सकलमङ्गलावली, धर्मतः सकलसौख्यसंपदः ।
धर्मतः स्फुरति निर्मलं यशो, धर्म एव तदहो! विधीयताम् ॥४॥

धर्म से सारे मंगलों की श्रेणी होती है, धर्म से सारी सुख-संपत्ति प्राप्त होती है, धर्म से यश निर्मल होकर चमकता है, अत एव हे लोगो ! धर्म ही किया करो ।।४।।

धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्बलं,
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशोविद्यार्थसंपत्तयः ।
कान्ताराच्च महाभयाच्च सततं धर्मः परित्रायते,
धर्मः सम्यगुपासितो भवति हि स्वर्गापवर्गप्रदः ॥५॥

उत्तम कुल में जन्म, नीरोग शरीर, सुन्दर भाग्य, अच्छी आयु, पूर्ण बल ये सब धर्म से ही होते हैं, निर्मल यश, विद्या और धन-दौलत धर्म से ही होती है और महाभय से और बड़े भारी जंगल में धर्म हमेशा रक्षा करता है, अच्छी तरह उपासना किया हुआ धर्म निश्चय कर के स्वर्ग और मोक्ष को देनेवाला होता है।।५।।

व्यसनशतगतानां क्लेशरोगातुराणां,
मरणभयहतानां दुःखशोकार्दितानाम् ।
जगति बहुविधानां व्याकुलानां जनानां,
शरणमशरणानां नित्यमेको हि धर्मः ॥६॥

सैकडों व्यसन (बुरी आदत) में फंसे हुए, क्लेश और रोग से दुःखी, मरण के भय से डरे हुए, दुःख और शोक से पीड़ित, अनेक तरह से व्याकुल (बेचैन) जिन को कोई शरण (आश्रय-सहारा) देने वाला नहीं हैं, ऐसे लोगों के लिए नित्य धर्म ही एक शरण (सहारा) है ॥६॥

धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः,
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमपरं पुत्रार्थिनां पुत्रदः ।
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमथवा नानाविकल्पैर्नृणां,
तत् किं यन्न करोति? किं च कुरुते स्वर्गापवर्गावपि ॥७॥

धर्म, धन की इच्छावालों को धन देता है, कामी को काम देता है, सौभाग्य के चाहनेवालों को सौभाग्य देता है, और क्या ? पुत्र की इच्छा वालों को पुत्र देता है, राज्य के प्रार्थी को भी राज्य देता है या पुरुषों को अधिक कहने से क्या ? इस संसार में वह क्या है जो धर्म नहीं करता? अर्थात् सब कुछ करता है, स्वर्ग और मोक्ष भी धर्म देता है ॥७॥

अथात्र धर्मबुद्धिशालिनो मतिसागरनाम्नो मन्त्रिणः पाप-बुद्धिधारिणो जितारिनाम्नो राज्ञश्च स्वस्वमन्तव्यधर्माधर्मविचारे विवादो जातः। अतस्तद्विषयकमिदं कामघटकथानकम्-

यथाऽस्मिन्नैव दक्षिणभरतक्षेत्रे श्रीपुरनामकं नगरमभूत्-

त्कथंभूतं सप्तविंशतिवकारेण युतम् ।

अब यहाँ धार्मिक बुद्धिवाले मतिसागर नाम के मंत्री का और अधार्मिक (पाप) बुद्धिवाले जितारि नाम के राजा का अपने अपने मंतव्य रूप धर्म-अधर्म के विचार में विवाद खड़ा हो गया, उसी विषय को लेकर यह कामघट कथानक है ।

इसी भरत क्षेत्र में श्रीपुर नाम का नगर (शहर) था । वह नगर सत्ताइस वकार से युक्त था-

यतः- जैसे :-

वापीवप्रविहारवर्णवनिता वाग्मी वनं वाटिका,
विद्वद्ब्राह्मणवादिवारिविबुधा वेश्या वणिग्वाहिनी[1] ।
विद्यावीरविवेकवित्तविनया वाचंयमो वल्लिका,
वस्त्रं वारणवाजिवेसरवराः स्युर्यत्र तत्पत्तनम् ॥८॥

[1]वापी (वावड़ी), [2]वप्र (किला), [3]विहार, [4]वर्ण (ब्राह्मण आदि चार जाति), [5]वनिता (स्त्री), [6]वाग्मी (वक्ता-स्पीकर), [7]वन, [8]वाटिका (बगीचा), [9]विद्वान्, [10]ब्राह्मण, [11]वादी (विवाद करने वाला) [12]वारि (जल), [13]विबुध (देवता), [14]वेश्या, [15]वणिक् (व्यापारी), [16]वाहिनी (सेना), [17]विद्या, [18]वीर, [10]विवेक, [20]वित्त (धन-दौलत), [21]विनय, [22]वाचंयम (वाणी पर संयम रखने वाला-साधु-मुनि), [23]वल्लिका (लता), [24]वस्त्र, [25]वारण (हाथी), [26]वाजि (घोड़ा), [27]वेसर (खच्चर), ये सब के सब अच्छे थे, ऐसा वह नगर था ॥८॥

तत्र जितारिनामा पृथिवीपतिरासीत्परं स नास्तिको जीवाजीवादितत्त्वानि न मन्यते स्मेति सप्तव्यसनादरपरोऽजनि ।

वहाँ जितारि नाम का राजा था, पर वह नास्तिक होने के कारण,

1. बवोरैक्यम् ।

जीव-अजीव आदि तत्त्वों को नहीं मानता था और सात दुर्व्यसनों का सेवी था.

यथा- जैसे :-

द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या,
पापर्द्धिचौरी परदारसेवा ।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके,
घोरातिघोरं नरकं नयन्ति ॥१॥

[1]जुआ खेलना, [2]माँस खाना, [3]शराब पीना, [4]वेश्या गमन, [5]शिकार, [6]चोरी करना, [7]दूसरे की स्त्री की सेवा (व्यभिचार) ये सात व्यसन इस संसार में अत्यन्त कष्ट-प्रद नरक में ले जाते हैं ।।१।।

पापतः समं भव्यं भवत्येवंविधो बुद्धिमान् स राजा वर्त्तते। तस्य सम्यक्त्वधारी जीवाजीवादितत्त्वविदास्तिको मतिसागराभिधोऽमात्योऽतीव मान्योऽभूत् । कुतो मन्त्रिणं विना राज्यमपि नो चलति शोभते च ।

पाप से सब भव्य (अच्छा) होता है, इस तरह का बुद्धिमान् ? (व्यंग से वास्तव में कुबुद्धिमान) वह राजा था और सम्यक्त्व धारी जीव-अजीव आदि तत्त्वों को जानने वाला आस्तिक बुद्धि वाला मतिसागर नाम का उसका मंत्री था जो अत्यन्त मान्य था । क्योंकि- मंत्री के बिना राज्य भी नहीं चल सकता और न शोभा पा सकता है ।

यतो नीतिशास्त्रेऽप्युक्तम् -

नीतिशास्त्र में भी कहा है -

राज्यं निःसचिवं गतप्रहरणं सैन्यं विनेत्रं मुखं,

वर्षा निर्जलदा धनी च कृपणो भोज्यं तथाज्यं विना ।
दुःशीला दयिता सुहृन्निकृतिमान् राजा प्रतापोज्झितः,
शिष्यो भक्तिविवर्जितो नहि विना धर्मं नरः शस्यते ॥१०॥

बिना मंत्री का राज्य, बिना अस्त्र-शस्त्र की सेना, बिना आँख का मुख, बिना बादल की वर्षा, कंजूस धनी, बिना घी का भोजन, व्यभिचारीणी स्त्री, कपटी मित्र, बिना प्रताप का राजा, बिना भक्ति वाला शिष्य और बिना धर्म का मनुष्य नहीं शोभता हैं ।।१०।।

अथैकदा राजा मन्त्रिणं प्रति वदति स्म-राज्यादिकं समस्तं पापेनैव भवति । तदा मन्त्र्याह-भो राजन्नेवं मा ब्रूहि, पापफलं तु प्रत्यक्षमस्मिन् लोके दृश्यते ।

इसके बाद एक समय राजा ने मंत्री को कहा कि- राज्य आदि सब कुछ (अच्छा) पाप से ही होता है । तब मंत्री ने कहा - हे राजन् ! ऐसा मत कहो, पाप का फल तो इस लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है ।

यतः - क्योंकि -

अनाज्यं भोज्यमप्राज्यं, विप्रयोगः प्रियैः सह ।
अप्रियैः संप्रयोगश्च, सर्वं पापविजृम्भितम् ॥११॥
कुग्रामवासः कुनरेन्द्रसेवा, कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या ।
कन्याबहुत्वं च दरिद्रभाव,एतान्यधर्मस्य फलानि लोके॥१२॥
खट्वायां मत्कुणा भूमौ, गृहं च बालकावलिः।
अर्केन्धनं यवा भक्ष्याः, पापस्येदं फलं मतम् ॥१३॥

थोड़ा भोजन और वह भी बिना घी का (रूखा-सूखा) प्रियजनों के साथ वियोग और अप्रिय (दुष्ट) जनों के साथ संप्रयोग (भेट-मुलाकात, आहार-व्यवहार) ये सब पाप के फल हैं ।।११।।

खराब ग्राम में वास, दुष्ट राजा की सेवा, खराब खाना, क्रोध मुंह वाली स्त्री, बहुत कन्या और दरिद्रता संसार में ये सब पाप के फल हैं ।।१२।।

चार पाई (खाट) में खटमल का होना, भूमि ही घर और बच्चों की अधिकता, जलाने के लिए आक की लकड़ी और खाने के लिए जौ, यह पाप का फल हैं ।।१३।।

अपि च-

यद्वैरूप्यमनाथता यिकलता नीचे कुले जन्मता,
दारिद्र्यं स्यजनैश्च यः परिभयो मौर्ख्यं परप्रेष्यता ।
तृष्णालौल्यमनिर्वृतिः कुशयनं कुस्त्री कुभुक्तं रुजा,
सर्वं पापमहीरुहस्य तदिदं व्यक्तं फलं दृश्यते ।।१४।।

कुरूप होना, अनाथ होना, व्याकुल होना, नीच कुल में जन्म होना, दरिद्रता और स्वजनों के साथ पराभव, मूर्खता, दूसरे की गुलामी, तृष्णा की लोलुपता, बेचैनी, खराब शयन, खराब स्त्री, खराब भोजन और रोग ये सब के सब पापरूपी वृक्ष के स्पष्ट फल देखे जाते हैं ।।१४।।

इत्थमेव पापसूचकं भाषायामपि काव्येनोक्तम्-

इसी तरह पाप का फल हिन्दी भाषा में भी कविता के द्वारा कहा हुआ है -

पापते जात रसातल मानय पापते अन्ध हुये नर नारी,
पापते व्याधि रहे अपरंपर पापते भीख्व भमंत भिख्वारी ।
पापते ख्वान रु पान मिले नही पापते होत है देह ख्वुयारी,
'सूरिदया' तजि पाप पराभव पुण्य करो मन शुद्ध विचारी।।१५।।

इत्यादिहेतोर्मन्त्री तु धर्मादेव सर्वं भव्यं भवतीति मन्यते ।

इत्यादि कारण से मंत्री तो धर्म से ही सब अच्छा होता है, यह मानता था ।

यतः - क्योंकि -

यन्नागा मदयारिभिन्नकरटास्तिष्ठन्ति निद्रालसा,
द्वारे हेमयिभूषिताश्च तुरगा हेषन्ति यद्दर्पिताः ।
वीणावेणुमृदङ्गशङ्खपटहैः सुप्तश्च यद् बोध्यते,
तत्सर्वं सुरलोकदेयसदृशं धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥१६॥

निद्रा से अलसाये हुए और मदजल से भीजे हुए दांत वाले (मतवाले) हाथियों के झुण्ड द्वार पर रहते हैं और वेगयुक्त (तेजस्वी) घोड़े सुवर्ण आदि अलङ्कारों से युक्त होकर द्वार पर हिनहिनाते हैं और सितार, बांसुरी, पखावज, शंख और नगाड़ों के द्वारा जो सोया हुआ जगाया जाता है, यह सब स्वर्ग में देवता के समान इस लोक में धर्म का ही फल है ॥१६॥

पुना राजानं मन्त्र्याह-राज्यादिसुखं निखिलं धर्मेणैव प्रजायते ।

फिर राजा को मन्त्री ने कहा - राज्य आदि सारा सुख धर्म से ही होता हैं ।

यतः - क्योंकि -

राज्यं सुसंपदो भोगाः, कुले जन्म सुरूपता ।
पाण्डित्यमायुरारोग्यं, धर्मस्यैतत्फलं विदुः ॥१७॥

मिलति पुत्रकलत्रसुखप्रदः, प्रियसमागमसौख्यपरम्परा ।

नृपकुले गुरुता विमलं यशो,भवति धर्मतरोः फलमीदृशम् ॥१८॥

अपि च-

धर्मो जयति नाऽधर्मो, जिनो जयति नाऽसुरः ।
क्षमा जयति न क्रोधः, सत्यं जयति नाऽनृतम् ॥१९॥

राज्य, अच्छी सम्पत्ति और उसका भोग, उत्तम कुल में जन्म, सुन्दर रूप, पण्डिताई, आयु और नीरोगपना यह सब धर्म का ही फल हैं ।।१७।।

सुख देने वाले पुत्र-स्त्री का मिलना, प्रियजनों का समागम और लगातार सुख का होना, राजकुल में बड़ाई और निर्मल यश यह धर्म रूपी वृक्ष का फल हैं ।।१८।।

और भी -

धर्म की विजय होती है- अधर्म की नहीं, जिनेश्वर जय पाते हैं- असुर नहीं, क्षमा की जय होती है-क्रोध की नहीं, और सत्य जीतता है, झूठ नहीं ।।१९।।

इति धर्मादेव भव्यं भवति न तु पापेन, तथापि राजा न मन्यते स्म प्रत्युत कथयति स्म- हे मन्त्रिन् ! मत्सकाशाद्धर्मतत्त्वं श्रूयताम्-परलोकगामी शरीरात्पृथक्कश्चन जीवो नास्ति यः परत्र पुण्यापुण्यजन्यं सुखदुःखमनुभविष्यति । शरीरमेवात्मा, पृथिव्यादिचतुष्टयमेव महाभूतं, राजा परमेश्वरः, यावानिन्द्रियगोचरः स एव लोको नापरः, धनार्जनोपायो धर्मः, तद्विरुद्धोऽधर्मः, मृत्युरेव मुक्तिः, अस्मिन् लोके सुखातिशयानुभवः स्वर्गः, दुःखातिशयानुभवो नरकः, प्रत्यक्षमेव प्रमाणं, सुराङ्गेभ्यो यथा मदशक्तिरुत्पद्यते,

तथैव चतुर्भ्यो भूतेभ्यश्चिच्छक्तिर्जायते, तस्माद्ये जना दृष्टं विहाया-दृष्टं कल्पयन्ति ते मन्दमतिमन्तो मूढा एव ज्ञातव्याः ।

इस तरह धर्म से ही अच्छा होता है, न कि पाप से । फिर भी राजा नहीं मानता था और कहता था- हे मन्त्री, मुझसे धर्म का तत्त्व सुनो-

दूसरे लोक में जाने वाला शरीर से अलग कोई जीव (पदार्थ) नहीं है, जो परलोक में पुण्य-पाप से उत्पन्न सुख-दुःख को अनुभव करेगा-भोगेगा । शरीर ही आत्मा है, पृथिवी आदि चार (पृथिवी, जल, अग्नि और वायु) ही महाभूत है । राजा ही परमात्मा है, जो आँखों के सामने दीखता है वही (यही) लोक है, दूसरा नहीं हैं । किसी भी ढंग से धन कमाने का उपाय धर्म है, धन नहीं कमाने का उपाय (प्रयत्न) अधर्म है। मौत ही मुक्ति है, इसी लोक में अत्यन्त सुख का भोग ही स्वर्ग है और अत्यन्त दुःख का भोग नरक है, प्रत्यक्ष ही (एक) प्रमाण है और जैसे शराब में से मदशक्ति (नशा) उत्पन्न होती है, उसी तरह चारों महाभूतों से चेतनशक्ति उत्पन्न होती है, इसलिए जो व्यक्ति प्रत्यक्ष को छोड़कर अप्रत्यक्ष की कल्पना करते हैं वे मन्द बुद्धि वाले मूर्ख ही हैं ऐसा जानना चाहिए ।

उक्तं च-

कहा भी है -

यावज्जीवेत्सुखं जीवे-दृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः? ॥२०॥

जब तक जीवित रहे तब तक खूब सुख से जीवित रहे और ऋण (कर्जा) लेकर घी पीना चाहिए, क्योंकि मृत्यु के बाद जला हुआ शरीर का फिर आना कहाँ से ? ॥२०॥

बौद्धमतेऽपि च-

और बौद्ध मत में भी –

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, मध्ये भक्तं पानकं चापराह्णे।
द्राक्षा खण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यसिंहेन दृष्टः॥२१॥

सुबह कोमल उज्ज्वल शय्या पर से उठकर शराब पीना चाहिए, उसके बाद दोपहर में भात आदि फिर अपराह्ण में (तिसरे पहर में) जलपान आदि और आधी रात में अंगूर, सक्कर और मिश्री खानी चाहिए, फिर मोक्ष होता है, ऐसा शाक्य सिंह (बुद्ध) ने देखा है– अर्थात् जिन्दगी में जो खूब खाता–पीता और मौज उड़ाता है उसे अन्त में मोक्ष मिलता है, ऐसा बुद्ध का मत (सिद्धान्त) हैं ।।२१।।

इति राजवाक्यं निशम्य मन्त्री प्रत्युवाच– हे महाराज ! नैतद्वक्तुं युज्यते, सर्वप्रमाणसिद्ध आत्मा नापलापयितुं शक्यः । यदि च लोकान्तरगामी आत्मा न सिद्ध्येत्तदैव "यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्" इति भवदुक्तं संगच्छेत । अत आत्मसिद्धिस्तावदाकर्ण्यताम्–"*अहं सुखी अहं दुःखी*" इति प्रत्यययोगत आत्मा शरीरादिव्यतिरिक्तः प्रतीयते, शरीरादिसंवातानां जडत्वान्न तादृशप्रतीतिस्तत्र घटते । किं च– "अहं घटं वेद्मि" एतस्मिन् वाक्ये कर्ता कर्म क्रिया चेति त्रितयं प्रतिभासते, तत्र कर्मक्रिये स्वीकृत्य कुतः कर्ता प्रतिषिध्यते ?। जडे शरीरे कर्तृत्वमेव न संभवति, भूतचैतन्ययोगात्तत्र चैतन्यमस्तीति चेदसंगतम् । "मया दृष्टं श्रुतं स्पृष्टं घ्रातं ज्ञातं स्मृतं भुक्तं पीतमास्वादितम्" इत्येककर्तृकाभावा भूतचिद्वादे न संगच्छन्ते चेतनबहुत्वप्रसंगात् । गवादीनां वत्सः पूर्वं स्वयमेव स्तन्यपानार्थमुत्तिष्ठति, तदपि जन्मान्तरानुभवं विना न संगच्छते, तेन सिद्धमात्मनो लोकान्तरगमनं, लोकान्तर–

गमनसिद्ध्या शुभाशुभकर्मबन्धोऽपि सिद्धः । कर्मवैचित्र्यात्स्वभाव-वैचित्र्यमपि घटते, तस्मात्सुराङ्गेभ्यो मदशक्तिरिवेति भूतचिद्वादो निराकृतः । न प्रत्यक्षप्रमाणेनैवाऽप्रत्यक्षा अपि सहस्रशः पदार्था अवगन्तुं शक्यास्तस्मादनुमानमपि प्रमाणं धूम्रादिलिङ्गदर्शनेन पर्वतादिगतं ज्वलनादिं लिङ्गिनमनुमातुं प्रामाणिकैरभ्युपगम्यत एव। तेनादृष्टानामपि पदार्थानां सिद्धौ सत्यां नाऽयं नास्तिकवादः प्रमाणपदवीमधिरोहति, ततस्त्याज्य एव सः । इति मन्त्रिणोक्तं निशम्यापि राज्ञा स्वकदाग्रहो न मुक्तस्तेन राज्ञः पापबुद्धिरिति लोके नाम जातं मन्त्रिणस्तु धर्मबुद्धिरिति । ततस्तयोः सर्वदा पुण्यपापविषये विवादो भवति स्म । पुनर्मन्त्री तु तं धर्मात्मानं विधातुं तेन नृपेण सह नित्यमेव विवदते स्म ।

राजा की ऐसी बात को सुनकर मन्त्री ने उत्तर दिया– हे महाराज! आप का ऐसा कहना ठीक नहीं है, सभी प्रमाणों से सिद्ध (साबित की हुई) आत्मा को आप झूठी नहीं कह सकते । और यदि दूसरे लोक में जाने वाली आत्मा की सिद्धि नहीं हो तब ही 'जब तक जीवे, सुख पूर्वक जीवे' इत्यादि आप का कहना ठीक हो सकता है । इसलिए, तब तक (पहिले) आत्मा की सिद्धि सुनिए –

"मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ" इस निश्चयात्मक ज्ञान से आत्मा शरीर से अलग प्रतीत होता है, क्योंकि शरीर आदि का संघात (समुदाय) जड़ है, उसमें इस तरह की प्रतीति (मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ...) नहीं हो सकती है। और भी– "मैं घड़े को जानता हूँ" इस वाक्य में, कर्त्ता, कर्म और क्रिया ये तीन चीजें दीखती है, वहाँ कर्म (घड़ा) और क्रिया (जानता हूँ) को स्वीकार कर के कर्त्ता को क्यों नहीं मानते ? क्योंकि– जड़ शरीर में

कर्त्तापन ही नहीं हो सकता, यदि चारों महाभूतों की चेतनता से शरीर में चेतनता हैं, ऐसा माना जाय तो यह ठीक नहीं । क्योंकि- ''मैंने देखा, सुना, स्पर्श किया, सूंघा, जाना, याद किया, खाया, पीया और आस्वाद लिया (चखा), इस तरह एक कर्त्ता सम्बन्धी ये अनेक भाव भूतचिद्वाद में घटित नहीं हो सकते, क्योंकि भूतचिद्वाद को स्वीकार करने से अनेक चेतन का प्रसंग (दोष) हो जाता है । गौ आदि पशुओं का बच्चा (बछड़ा) पहले अपने आप ही (बिना सिखलाये हुए ही) दूध पीने के लिए उठ-खड़ा होता है, वह भी दूसरे जन्म के अनुभव (ज्ञान) के बिना नहीं हो सकता है, इससे आत्मा का दूसरे लोक में जाना सिद्ध (साबित) होता है और जब आत्मा का दूसरे लोक में जाना सिद्ध होता है तब पाप-पुण्य-कर्म का बन्धन भी सिद्ध होता है । कर्म की विचित्रता से स्वभाव की विचित्रता भी होती है, इसलिए, शराब से मदशक्ति के जैसा इस भूतचिद्वाद का निराकरण (खण्डन) हो गया । और प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सैकड़ो अप्रत्यक्ष पदार्थ भी नहीं जाने जा सकते, इसलिए अनुमान भी प्रमाण (दूसरा प्रमाण) मानना पड़ेगा । क्योंकि, धूआँ आदि लिंग को देखने से पर्वत आदि में रहा हुआ अग्नि आदि लिंगी का अनुमान प्रमाणिकों (तर्क शास्त्रियों) द्वारा जाना जाता है, इसलिए अदृष्ट (बिना देखे हुए) पदार्थों की भी सिद्धि होने पर यह नास्तिकवाद (केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण-प्रमाण) मानने योग्य नहीं हैं । इसलिए वह नास्तिकवाद छोड़ देने ही लायक है । इस तरह मंत्री की बात को सुनकर भी राजा ने अपना बुरा आग्रह नहीं छोड़ा। इसलिए लोक में राजा का नाम *पापबुद्धि* हुआ और मंत्री का नाम *धर्मबुद्धि* हुआ । उसके बाद सदा दोनों का पुण्य-पाप के विषय में विवाद होता था और मंत्री तो उस राजा को धर्मात्मा बनाने के लिए नित्य उस राजा के साथ विवाद करता था ।

यतः- क्योंकि -

यात्रार्थं भोजनं येषां, दानार्थं च धनार्जनम् ।
धर्मार्थं जीवितं येषां, ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२२॥

जो लोग शरीर-रक्षा के लिए भोजन करते हैं और दान के लिए धन कमाते हैं एवं धर्म के लिए जीते हैं वे स्वर्ग में जाते हैं ॥२२॥

अथैकदा हास्ययुक्तवचनेन राज्ञोक्तम्- भो मन्त्रिन् ! त्वं बहुतरं पुण्यं मन्यसे, तर्हि तव स्वल्पैव लक्ष्मीः कथं ? पुनर्मम पापादेव राज्यादिसुखं कथं जातम् ? एतन्निशम्य मन्त्रिणा चिन्तितं खल्वेष जडमतिः, अहह ! यो यस्य शुभाशुभस्वभावः पतितः स तं कथमपि नैव मुञ्चति ।

फिर एक समय मस्करी करते हुए राजा ने कहा- हे मन्त्री ! जब तुम धर्म को अधिक उत्तम मानते हो तब तेरे पास थोड़ी ही लक्ष्मी (धन-दौलत) क्यों है ? और मेरे पाप से ही राज्य आदि का इतना अधिक सुख क्यों हो गया ? यह सुनकर मन्त्री ने विचार किया कि यह राजा जड़बुद्धि है, ओह ! जिसका जो अच्छा बुरा स्वभाव हो जाता है वह उस स्वभाव को किसी तरह भी नहीं छोड़ता है ।

यतः- क्योंकि -

कर्पूरधूल्या रचितस्थलोऽपि, कस्तूरिकाकल्पितमूलभागः।
हेमोदकुम्भैः परिषिच्यमानः, पूर्वान् गुणान्मुञ्चति नो पलाण्डुः॥२३॥

कपूर की धूली (रज-कर्ण) से जमीन (खेत) को अच्छी तरह सुवासित (सुगंधमय) कर दिया जाय और जड़ में कस्तूरी बिछा दी जाय एवं सुवर्ण के घड़ों में भरे जल से पटाया-छिड़काया जाय फिर

भी प्याज अपने गुणों (दुर्गन्ध-बदबू) को नहीं छोड़ता हैं ।।२३।।

माधुर्यं चेक्षुखण्डे जगति सुरभिता चम्पकस्य प्रसूने,
शैत्यं श्रीखण्डखण्डे भ्रमरपरिकरे चातुरी राजहंसे ।
रागः पूगीफलानाममितगुणयतां नागवल्लीदलानां,
सद्वृत्त्या चारु शीलं कथमपि कथितं केन कस्योपदेशः?।।२४।।

ईख में मिठास, चम्पा के फूल में उत्कृष्ट सुगन्धि, श्रीखण्ड (मलय चन्दन) में शीतलता, भौंरों में पुष्प रस लेने की चतुराई और दलबंदी-एकता, राजहंस में दूध-पानी के अलग-अलग करने का विवेक, गुणकारक पान और सुपारी की रंग (लाल) और अच्छी वृत्ति से किसी तरह भी सुन्दर शील की रक्षा संसार में यह किसने किस को कहा ? और किसने किसको उपदेश दिया ? अर्थात् उपर्युक्त अपने आप (स्वभाव से ही) हुआ करती हैं ।।२४।।

अपि च-

और भी

शर्करासर्पिषा युक्तः, निम्बबीजः प्रतिष्ठितः ।
क्षीरघटसहस्रैश्च, निम्बः किं मधुरायते? ।।२५।।

नीम के बीज में शक्कर और घी मिला दिया जाय और हजारों दूध भरे घड़ों से पकाया जाय तो नीम मीठा हो सकता है क्या ? हरगिज नहीं ।।२५।।

ततो राज्ञोक्तं यद्यहं युद्धवधादिकं पापं करोमि तेन मे हयगजान्तःपुरभाण्डागारादिवृद्धिश्च, पुण्यं कुर्वाणस्यापि ते गृहे मत्समं द्रव्यादिकं नैव वर्तते, यत्किमप्यस्ति तदपि समस्तं मयैव

समर्पितम् । न च ते पुण्यफलं, अतो धर्मस्य किमपि माहात्म्यं नास्ति, मम मते तु पापेनैव भव्यं भवति । यदि *त्वं धर्मप्रभावं मन्यसे, तर्हि त्वं धनं विनैकाक्येतादृशे देशान्तरे गत्वा धर्मप्रभावादेव धनमर्जयित्वा त्वरितमागच्छ ।*

इसके बाद राजा ने कहा- यदि मैं लड़ाई में वध (मार-काट आदि) पाप करता हूँ तो उससे मेरे घोड़े-हाथी-महल-द्रव्य आदि की वृद्धि है और पुण्य करते हुए भी तेरे घर में मेरे बराबर द्रव्य नहीं है और जो कुछ है भी वह भी सब मेरा ही दिया हुआ है, और तुम्हारे पुण्य का तो फल नहीं है, इसलिए धर्म का कुछ भी माहात्म्य नहीं है, मेरे विचार से तो पाप से ही अच्छा होता है । यदि तुम धर्म के माहात्म्य को मानते हो तो तुम बिना धन के अकेले किसी ऐसे दूसरे देश में जाकर (जहाँ अपना कोई परिचित न हो) धर्म के प्रभाव से ही धन कमाकर शीघ्र आ जाओ ।

यतः - क्योंकि -

तत्र देशे हि गन्तव्यं, स्वकीयं यत्र नो भवेत् ।
प्रतोल्यां भ्रमतो नित्यं, वार्तां कोऽपि न पृच्छति ॥२६॥

तुम्हें ऐसे देश में जाना चाहिए, जहाँ अपना कोई न हो और वहाँ गलियों में घूमते (भटकते) हुए तुम से कोई बात भी न पूछे।।२६।।

तदाहं ते धर्मफलं वेद्मि नान्यथा, ततः साहसिकेन परोपकारिणा मन्त्रिणोक्तमेवमस्तु ।

तब मैं तुम्हारा धर्म-फल जानूं, अन्यथा नहीं । तब साहसी और परोपकारी मन्त्री ने कहा- ऐसा हो ।

यतः- क्योंकि -

साहसी लभते लक्ष्मीं, कातरो न कदाचन ।
श्रुतौ हि कुण्डलं भाति, नेत्रे भाति हि कज्जलम् ॥२७॥

साहसी (बहादुर) लक्ष्मी प्राप्त करता है, कायर कभी नहीं । क्योंकि- कान में कुण्डल शोभता है और आँख में काजल ।।२७।।

अपि च-

और भी -

उद्यमः साहसं धैर्यं, बलं बुद्धिः पराक्रमः ।
षडेते यस्य विद्यन्ते, तस्माद्देवोऽपि शङ्कते ॥२८॥

उद्योग, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि और पराक्रम ये छः वस्तुएँ जिसमें विद्यमान हैं, उससे देव भी शंका करते (डरते) हैं ।।२८।।

एवमुक्त्वा मन्त्री देशान्तरं चचाल । अथ कियन्मार्गं गच्छन्नेकदा रात्रावटव्यामागतस्य तस्य पुरतः क्षुधाकुलः सन्नद्मि अद्मीत्यारटन्नेको निशाचरो मिलितः । तदा मन्त्रिणा स्वोत्पातबुद्ध्या तस्य दृष्टमात्रस्यैवोच्चस्वरैः पूत्कारः कृतः । हे मातुल ! तुभ्यं मे नमस्कृतिरस्तु, एवं मन्त्रिणोक्तस्स कथयति स्म- हे सुनर ! स्वेच्छया त्वं मातुलो मातुल इति मां मा ब्रूहि, यदि पुनर्वक्ष्यस्येव तथाप्यहं त्वामवश्यमेव भक्षयिष्यामि, यतोऽद्याहं सप्तभिर्दिवसैर्बुभुक्षितोऽस्मि । अतः साम्प्रतं धर्माधर्मदयादिविवेकविकलो यथातथा निजोदरं पूरयिष्याम्येव ।

इस तरह कहकर मन्त्री दूसरे देश को चला । उसके बाद कुछ दूर मार्ग में जाते हुए उसको रात्रि के समय में जंगल में आये हुए उसके सामने भूख से व्याकुल होकर "खाउंगा-खाउंगा" ऐसा बोलता हुआ एक राक्षस

मिला। तब मन्त्री ने अपनी आपत्ति (आफत) विचारकर उसको देखते ही खूब जोर से पुकारा- मामाजी, आपको मेरा प्रणाम हो ! इस तरह मन्त्री की बात को सुनकर वह (राक्षस) कहता है – हे श्रेष्ठ पुरुष ! अपनी इच्छा से तुम मुझे "मामा, मामा" मत कहो। यदि फिर बोलोगे तो भी मैं तुम को अवश्य ही खा जाउंगा, क्योंकि, मैं सात दिनों से भूखा हूँ। इसलिए अभी धर्म, अधर्म दया आदि के विवेक से व्याकुल-विकल (शून्य) जैसा-तैसा अपने पेट को पूरा करूंगा ही।

तदुक्तं च –

क्योंकि, कहा है –

बुभुक्षितः किं न करोति पापं?, क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।
आख्याहि भद्रे! प्रियदर्शनस्य, न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम् ॥२९॥

भूखा जीव कौन सा पाप नहीं करता ? अर्थात् भूखा सभी तरह का पाप करता है। निर्बल और निर्धन मनुष्य निर्दयी होते हैं। सो हे भद्रे ! प्रियदर्शन को कह दो कि- गंगदत्त फिर अब कूप में नहीं आ सकता है ॥२९॥

तथा च–

और इस तरह –

लज्जामुज्झति सेयते च कुजनं दीनं यचो भाषते,
कृत्याकृत्ययियेकमाश्रयति नो नो प्रेक्षते स्यां रतिम्।
भण्डत्यं यिदधाति नर्तनकलाभ्यासं समभ्यस्यति,
दुष्पूरोदरपूरणव्यतिकरे किं किं न कुर्याज्जनः? ॥३०॥

लज्जा को छोड़ देता है, कुजन की सेवा करता है, दीन वचन

बोलता है, कार्य और अकार्य का ज्ञान नहीं रखता है, अपने प्रेम (सद्भाव) को नहीं देखता है, भडुये का काम करता है और नाचना-कूदना आदि का अभ्यास करता है (यह सब मनुष्य पापी पेट के लिए ही करता है) सो दुःख से पूरा होने लायक पेट-पूर्त्ति की बात में प्राणी क्या-क्या नहीं करता ? अर्थात् सब कुछ करता है ।।३०।।

अतस्त्वां सर्वथा नैव मुञ्चामि भक्षयिष्याम्येव। इत्याकर्ण्य पुनर्मन्त्री कथयति स्म- हे मातुल ! एतावत्प्रसादं कुरु, साम्प्रतं मे महत्कार्यमस्ति तदर्थमग्रे जिगमिषामि, तत्कृत्वा प्रत्यागच्छन्नहं तव क्षुधोपशमं करिष्यामि, अतो विवेकिन् ! मां मुञ्च मुञ्च । पलादः कथयति स्म - हे मानव ! कृष्णशिरसो मायाविनो नरस्य तव को विश्वासः ?, ततः कथं मरणायात्रैव त्वं मत्पार्श्वे समागच्छेः । मन्त्रिणोक्तम्-यद्यहं नागच्छामि, तर्हीमानि पातकानि मे भवन्तु। तानि यथा-परनरसङ्गं विधाय या स्त्री गर्भशातनं करोति तस्या यत्पातकं तन्मां स्पृशतु, एवमेव व्रतान्यङ्गीकृत्य पुनस्तद्भञ्जकस्य, यः पितराववगणयति गुरुं चापह्नुते तस्य, विश्वासमुत्पाद्य तद्विश्वासघातकस्य, धर्मस्थाने पापपरायणस्य, वनदाहकस्य, अष्टादशपापस्थानाचरितुः, भ्रातृस्वसृमुनीनां घातकस्य, सप्तव्यसनसेविनोऽनृतव्यवहारपरायणस्य, तथा बालधेनु-स्त्रीविप्राणां निहन्तुः, स्वगोत्रस्त्रियं यः सेवते तस्य, षट्पदीलिक्षादिक्षुद्रजन्तूनां हिंसकस्य, धर्मनिषेधकस्य, धर्मी भूत्वा धौर्त्येन जगद्वञ्चकस्य, कृतघ्नस्य, अन्येषां प्राणिनां कुमार्गयोजकस्य, गुरुदेवज्ञानद्रव्याणां भक्षकस्य, पूजनीयगुर्वादीनां पराभवकर्त्तुश्चेत्यादीनां यानि जगति महान्ति पातकानि तानि सर्वाणि चेदहं

नायामि तर्हि मां स्पृशन्तु । एवमुक्तरूपां मन्त्रिवाचं श्रुत्वा विश्वस्तेन तेनापि तस्य मन्त्रिणः पुण्यप्रभावाद् गमनाज्ञा दत्ता, ततः समा-साद्याज्ञां सहर्षोऽग्रे मन्त्री प्रतस्थे । अथ मार्गे गच्छता तेन कस्याश्चि-न्नगरासन्नवनवाटिकायां श्रीऋषभदेवस्वामिप्रासादो दृष्टः । तत्र गत्वातिभावनापूर्विकां विध्युपेतां जिनेश्वरपूजां विधायातिहृष्टस्सन् स्वहृदयोद्भूतसद्भावेन वीतरागगुणवर्णनस्तुतिं पठति स्म ।

इसलिए मैं तुम को किसी तरह नहीं छोड़ सकता, खाऊँगा ही । यह सुनकर फिर मन्त्री कहने लगा- हे मामा ! इतनी दया तो करो, अभी मुझे बड़ा जरूरी काम है, उसके लिए कुछ दूर आगे जाना चाहता हूँ, उस कार्य को करके लौटता हुआ मैं तुम्हारी भूख अवश्य मिटाऊँगा । इसलिए है विवेकी, मुझे अभी छोड़ दो, छोड़ दो । फिर, माँसाहारी (राक्षस) कहने लगा- हे मानव ! काले शिर वाले मायावी मनुष्य तुम्हारा विश्वास क्या ? सो तुम मरने के लिए मेरे पास यहाँ क्यों आओगे ? मन्त्री ने कहा - यदि मैं लौटकर आपके पास नहीं आऊं तो मुझे ये पाप हों । वे ये है- जैसे दूसरे पुरुष से संग करके जो स्त्री गर्भ गिराती है, उसको जो पाप लगते हों वे पाप मुझे हो । इसी तरह व्रती को व्रत भंग करने से जो पाप होता है, माता-पिता और गुरु का निरादर करने से जो पाप लगता है, विश्वासघाती को जो पाप लगता है, तीर्थ आदि में पाप करने से जो पाप होता है, वन के जलाने वाले को, अठारह पाप स्थान के आचरण करनेवाले को, भाई-बहन और मुनि को मारनेवाले को, सात व्यसनों के सेवने वाले को, मिथ्यावादी को, बालक-स्त्री-गो-ब्राह्मण के मारने वाले को, समान गोत्र के स्त्री के साथ रति करने वाले को, गुरु-देव-ज्ञान के द्रव्य को खानेवाले को, पूज्य गुरु आदि को दुःख देने वाले को जो पाप लगता है, तथा ऐसे ही संसार में जितने बड़े पाप हैं वे सब पाप मुझे लगे जब कि आपके पास

लौटकर नहीं आ जाऊँ । इस तरह मन्त्री की बात को सुनकर विश्वास को प्राप्त हुआ उसने भी उस मन्त्री के पुण्य के प्रभाव से उसे जाने के लिए आज्ञा देदी । अनन्तर राक्षस की आज्ञा पाकर हर्षित होकर मन्त्री आगे चला । अब मार्ग में जाता हुआ उसने किसी शहर के नजदीक ही बगीची में भगवान् ऋषभदेव स्वामी का मन्दिर देखा । वहाँ जाकर अच्छी तरह भक्ति-भावना पूर्वक भगवान् जिनेश्वर की पूजा कर अत्यन्त खुश होकर अपनी हार्दिक सद्भावना के द्वारा भगवान वीतराग देव की स्तुति करने लगा -

तद्यथा-

अमोघा वासरे विद्यु-दमोघं निशि गर्जितम् ।
अमोघं साधुवाक्यं च, ह्यमोघं देवदर्शनम् ॥३१॥

दिन में बिजली का चमकना, रात्रि में मेघ की गर्जना, साधुओं की वाणी और देवता का दर्शन ये कभी निष्फल नहीं होते ॥३१॥

अपि च-

और भी

धन्यानां ते नरा धन्या ये जिनेन्द्रमुखाम्बुजम् ।
निर्विकारि मनोहारि, पश्यन्ति दिवसोदये ॥३२॥

वे मनुष्य धन्य लोगों में भी धन्य हैं - धन्यवाद के पात्र हैं जो प्रातःकाल में निर्मल और मनोहर जिनेश्वर के मुख-कमल को देखते हैं ॥३२॥

पुनर्ये नराः शास्त्रोक्तद्रव्यभावपूजाविधिना जिनेन्द्रपूजां कुर्वन्ति तेषामीदृशं फलं भवति ।

और जो लोग शास्त्रोक्त रीति से द्रव्य-भाव-पूजा की विधि से जिनेश्वर की पूजा करते हैं, उन्हें ऐसा फल होता है।

तथाहि -

जैसे -

वस्त्रैर्वस्त्रविभूतयः शुचितरालङ्कारतोऽलङ्कृतिः,
पुष्पैः पूज्यपदं सुगन्धितनुता गन्धैर्जिने पूजिते।
दीपैर्ज्ञानमनावृतं निरुपमा भोगर्द्धिरत्नादिभिः,
सन्त्येतानि किमद्भुतं शिवपदप्राप्तिस्ततो देहिनाम् ॥३३॥

भगवान् जिनेश्वर की वस्त्रों से पूजा करने से वस्त्र की संपत्ति बढ़ती है, अलंकार से पूजा करने से अनेक तरह के अलंकार प्राप्त होते हैं, फूलों से पूजा करने से बड़ा पद प्राप्त होता है, गंधों (सुगंधों) से पूजा करने से अच्छी गंध की वृद्धि होती है, दीप से पूजा करने से स्पष्ट, ज्ञान प्राप्त होता है, रत्न आदि से पूजा करने से अत्यन्त भोग-सुख की वृद्धि होती है, इतना प्राप्त हो इसमें आश्चर्य क्या ? क्योंकि भगवान् की पूजा करने से संसारिक सभी सुख के मिलने के बाद अन्त में मुक्ति भी मिलती है ॥३३॥

न यान्ति दास्यं न दरिद्रभावं, न प्रेष्यतां नैव च हीनयोनिम्।
न चापि वैकल्यमथेन्द्रियाणां, ये कारयन्त्यत्र जिनेन्द्रपूजाम्॥३४॥

जो प्राणी भगवान् जिनेश्वर की पूजा करवाते हैं, उन्हें नौकरी नहीं करनी पड़ती, वे दरिद्र नहीं होते, सेवक नहीं होते और न नीच योनि में पैदा होते, और उन्हें इन्द्रियों की विकलता भी नहीं होती॥३४॥

देव! त्वं दुःखदावाग्नि–तप्तानामिह वारिदः।
मोहान्धकारमूढाना–मेकदीपस्त्वमेव हि ॥३५॥

हे भगवान् जिनेश्वर ! दुःख रूपी वन की अग्नि से जले हुए लोगों के लिए तुम सजल मेघ के समान हो और मोह रूपी अन्धकारों से विमूढ लोगों के लिए तुम ही एक (ज्ञान रूपी) दीप हो ।।३५।।

आयुष्यं यदि सागरोपममितं व्याधिव्यथावर्जितं,
पाण्डित्यं च समस्तवस्तुविषयं प्रावीण्यलब्धास्पदम् ।
जिह्वा कोटिमिता च पाटवयुता स्यान्मे धरित्रीतले,
नो शक्नोमि तथापि वर्णितुमलं तीर्थेशपूजाफलम् ॥३६॥

यदि मेरी आयु शारीरिक और मानसिक रोगों से रहित एक सागरोपम वर्ष प्रमाण हो और सारे पदार्थों के ज्ञान की निपुणता को प्राप्त करने वाली पण्डिताई मुझ में हो जाय, और इस भूतल पर वाक पटुता वाली करोड़ों जिह्वाएँ मुझे हो जाय, तो भी तीर्थेश्वर की पूजा का फल वर्णन करने के लिए मैं समर्थ नहीं हो सकता हूँ ।।३६।।

मिथ्याम्बुलहरीधूतं, निमज्जन्तं भवार्णवे ।
कुग्राहग्रसितं नाथ! मामुत्तारय तारय ॥३७॥

हे भगवान् ! मिथ्यात्वरूपी जल तरंग से कम्पित, संसार रूपी समुद्र में डूबते हुए और दुष्टग्राह (मिथ्याग्रह) से ग्रसित मुझे पार करो, पार करो ।।३७।।

जन्ममृत्युजरारोग–शोकसन्तापवैरिणः ।
पृष्ठतो धावतो देव!, मयि वारय वारय ॥३८॥

हे देव ! मेरे पीछे दौड़ते हुए– जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग, शोक

और संताप रूपी मेरे शत्रुओं को आप रोक दो, रोक दो ।।३८।।

ऊर्ध्वं त्रैभुवनं चतुर्गतिभवं हन्तुं कषायादिकान्,
विच्छेत्तुं विकथां चतुर्विधसुरप्रीतिं च कर्त्तुं तथा ।
वक्तुं धर्मचतुष्टयं रचयितुं सङ्घं चतुर्धा ध्रुवं,
व्याख्यानावसरे चतुर्विधकृताऽऽवक्त्रो जिनः पातु वः ॥३९॥

चार प्रकार की गतियों से उत्पन्न तीनों लोकों से परे कषाय आदि को मारने के लिए, बुरी बातों का नाश करने के लिए और चार प्रकार के देवों की प्रीति करने के लिए, चार प्रकार के धर्म का उपदेश देने के लिए तथा चार प्रकार के संघ का निर्माण करने के लिए व्याख्यान के समय में जिनके चार प्रकार के मुंह हो गये अर्थात् उपयुक्त बातें जिन भगवान् के व्याख्यान के समय चारों ओर से सुनाई देने लगी वे भगवान् जिनेश्वर तुम्हारी रक्षा करें ।।३९।।

अपि च–

और भी –

चिन्तामणिं न गणयामि न कल्पयामि,
कल्पद्रुमं मनसि कामगवीं न वीक्षे ।
ध्यायामि नो निधिमनर्घ्यगुणातिरेक–
माद्यं जिनेश्वरमहर्निशमेव सेवे ॥४०॥

मैं चिन्तामणि को नहीं चाहता, कल्पवृक्ष की चाहना भी नहीं है और न कामधेनु को ही देखना चाहता हूँ, न धन–दौलत का ही ध्यान है, किन्तु एक यह कि– अमूल्य गुणों से युक्त भगवान् आदि जिनेश्वर की ही दिन–रात सेवा करूं ।।४०।।

इत्यादिस्तुत्या प्रमुदितः प्रतिमारक्षः कपर्दियक्षः प्रत्यक्षो बभूव। तेन जिनभक्तिस्तुतिसन्तुष्टेन बहिर्गत्वा मन्त्रिणे कामघटः समर्पितः । तदा मन्त्रिणोक्तम्- भो यक्षेन्द्र ! अहमेनं घटं कथं गृह्णामि कुत्र वा स्थापयामि ? अनेन समीपस्थेन पुरुषस्य लज्जा स्यात्। ततो देवेनोक्तमनुत्पाटित एवाऽदृष्टस्सन्नयं घटस्तव पृष्ठे समागमिष्यति, पुनस्तेऽयं मनोवाञ्छितार्थं पूरयिष्यति । एत-न्मन्त्रिणापि स्वीकृतं, ततः स मन्त्री कृतकृत्यस्सन् कामकुम्भं लात्वा स्वनगरं प्रति चलितो मार्गे विचारयति स्म-ममेदं धर्मस्य माहात्म्यं, धर्मेण विना नरोऽपि न शोभते, यथेष्टं च कार्यं किमपि न स्यात्।

इत्यादि भगवंत् की स्तुति से प्रसन्न होकर प्रतिमा का रक्षक कपर्दि यक्ष प्रत्यक्ष (सामने) हुआ । और उस यक्ष ने भगवान् की भक्ति भरी स्तुति से खुश होकर बाहर जाकर मन्त्री को 'कामघट' दिया । तब मन्त्री ने कहा- हे यक्षराज ! मैं इस कामघट को किस तरह ग्रहण करूं या कहाँ स्थापन करूं? क्योंकि इसको पास में रखने से पुरुष को लज्जा होगी । तब यक्ष बोला कि- बिना उठाये हुए ही यह अदृश्य होकर तुम्हारे पीछे आयगा और यह तुम्हारा सारा मनोरथ पूरा कर देगा । इसे मंत्री ने भी स्वीकार कर लिया । अनन्तर वह मन्त्री कृतकृत्य (कार्य में सफल) होकर कामघट को लेकर अपने नगर की ओर चला और रास्ते में विचारने लगा- मुझे यह धर्म का ही माहात्म्य है, धर्म के बिना मनुष्य शोभा नहीं पाता और उसकी इच्छाएँ कुछ भी पूरी नहीं हो पाती है ।

यतः- क्योंकि -

निर्दन्तः करटी हयो गतजयश्चन्द्रं विना शर्वरी,

निर्गन्धं कुसुमं सरो गतजलं छायाविहीनस्तरुः ।
भोज्यं निर्लवणं सुतो गतगुणश्चारित्रहीनो यतिः,
निर्द्रव्यं भवनं न राजते तथा धर्मं विना मानवः ॥४१॥

बिना दांत का हाथी, बिना वेग (चाल) का घोड़ा, बिना चन्द्रमा की रात्रि, बिना सुगन्ध का फूल, बिना जल का सरोवर, बिना छाया का वृक्ष, बिना नमक का भोजन (व्यंजन), बिना गुण का लड़का (पुत्र), बिना चारित्र का यति (साधु-विरागी), बिना द्रव्य का महल जैसे नहीं शोभता है, उसी तरह बिना धर्म का मनुष्य भी नहीं शोभता है ।।४१।।

पुनर्यत्र धर्मी नरो गच्छति तत्र सर्वत्र वृक्षो लताभिरिव समृद्धिवल्लीभिर्वेष्ट्यते ।

फिर जहाँ धर्मात्मा आदमी जाते हैं वहाँ उनके पास सम्पत्ति इस तरह स्वयं आ जाती है जैसे किसी वृक्ष पर लता स्वयं चारों ओर से घेर कर चढ़ जाती है ।

यतः - क्योंकि -

पुंसां शिरोमणीयन्ते, धर्मार्जनपरा नराः ।
आश्रीयन्ते च संपद्भि-र्लताभिरिव पादपाः ॥४२॥

जो व्यक्ति धर्म करते हैं वे पुरुषों में शिरोमणि के समान हो जाते हैं, और जैसे वृक्षों को लताएँ चारों तरफ से घेर लेती है उसी तरह उस धर्मात्मा को सम्पत्ति भी चारों तरफ से लिपट लेती है।।४२।।

अथाग्रे चलन्मन्त्री तस्यामेवाटव्यां समागतः । गच्छन्मनसि चिन्तयति स्म- अहो ! सैवाटवी समागता, सोऽथ पलादो मां

मिलिष्यति मत्प्रतिज्ञानुकूलं च मां भक्षयिष्यति कोऽत्र मे शरणं ? पूर्वपुण्यं विना ।

अनन्तर आगे चलता हुआ वह मन्त्री उसी जंगल में आ गया (जहाँ आते समय राक्षस से मुलाकात हुई थी) और जाता हुआ मन में विचार करने लगा- अरे ! यह तो वहीं जंगल आ गया, अब यहाँ वह राक्षस मुझे मिलेगा और मेरी प्रतिज्ञा (वादा) के अनुसार मुझे खायगा, सो पूर्वपुण्य के बिना यहाँ मेरा रक्षक अन्य कौन होगा ?

यतः- क्योंकि -

यने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये, महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा, रक्षन्ति पुण्यानि पुरा कृतानि ॥४३॥

वन में, संग्राम में, शत्रु-जल और अग्नि के बीच में, महासमुद्र के बीच में और पहाड़ के ऊपर रहे हुए, सोये हुए, प्रमाद में रहे हुए, और विकट परिस्थिति में रहे हुए मतवाले दुःखित प्राणी को पूर्वकृत पुण्य ही रक्षा करते हैं ॥४३॥

इतश्चाग्रे पलादोऽपि मिलितः, तदैव तेनोक्तम् - हे पुरुषोत्तम! स्वोक्तवचनमथ पालय ।

और इधर आगे (सामने) राक्षस भी मिला, उसी समय उसने कहा - हे नरश्रेष्ठ ! अपनी बात का पालन (पूरा) करो ।

यतः- क्योंकि -

संसारस्य त्यसारस्य, याचा सारा हि देहिनाम् ।
याचा विचलिता यस्य, सुकृतं तेन हारितम् ॥४४॥

इस असार संसार में प्राणियों की वाणी ही सार है, जो अपनी

वाणी से विचलित (अलग) हुआ वह अपना पुण्य हार गया ।।४४।।

मन्त्रिणोक्तं तथाऽस्तु पालयिष्यामि परं किमनेन मेऽशुचि-शरीरेण भक्षितेन ? ।

मन्त्री ने कहा - ऐसा ही हो 'मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करूंगा । लेकिन, इस अपवित्र मेरे शरीर के खाने से तुझे क्या लाभ ?

यतः - क्योंकि -

रसाऽसृग्मांसमेदोऽस्थि-मज्जाशुक्राणि धातवः ।
सप्तैव दश वैकेषां, रोमत्यक्स्नायुभिः सह ।।४५।।

अमेध्यपूर्णे कृमिजालसङ्कुले, स्वभावदुर्गन्ध अशौचनिह्नवे।
कलेवरे मूत्रपुरीषभाजने, रमन्ति मूढा विरमन्ति पण्डिताः ।।४६।।

अजिनपटलगूढं पिञ्जरं कीकसानां,
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहम् ।
कुणपकुणपिगन्धैः पूरितं बाढगाढं,
कथमिव मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम्? ।।४७।।

रस, रक्त, माँस, मेद (चर्बी) अस्थि (हड्डी), मज्जा और शुक्र (वीर्य) इन सात धातुओं से अथवा किन्ही के मत से रोम (रोगंटे) त्वचा (चामड़ी) और स्नायु (नसें) इन तीनों से युक्त दश धातुओं से बने हुए, अपवित्रता से भरे हुए कीड़ों के समुदाय से युक्त स्वभाव से ही दुर्गन्धि वाले अपवित्रता जिसमें छिपी है, ऐसे मूत्र-पुरीष (पेशाब-पाखाना) के घर इस शरीर में मूढ़-मूर्ख लोग रमण (प्रेम) करते हैं और पण्डित (बुद्धिमान्) लोग रमण नहीं करते हैं । हड्डियों के ढांचा का पिंजरा चर्म के समूह से गूढ़ (ढंका हुआ) है । यमराज के मुंह में रहा हुआ, रोग रूपी सर्पराज का घर, जूं और खटमल के जैसी

गंधों से पूर्ण यह शरीर किस तरह किसी की प्रीति (राग) के लिए हो सकता है । अर्थात् यह नश्वर अपवित्र दुर्गन्ध युक्त शरीर किसी भी बुद्धिमान के प्रीति के योग्य नहीं है ।।४५।।४६।।४७।।

पुनरमात्येनोक्तम् - हे पलाद ! मच्छरीरभक्षणेन तव कार्यं सरसरसवत्या वा ? तेनोक्तम् तर्हि-सरसां रसवतीं देहि, तदा तेन मन्त्रिणा कामघटप्रभावेण यथेष्टामत्यपूर्वां रसवतीं तस्मै दत्त्वा दिव्याहारो भोजितः । ततः सन्तुष्टेन पलादेनोक्तम्-एवंविधा रसवती त्वया कुतो दत्ता ? तदा धर्मिणाऽसत्यपापभीरुणा मन्त्रिणा सत्यमेवोक्तं कामघटप्रभावेणेति ।

फिर मन्त्री ने कहा- हे राक्षस ! मेरे शरीर को भक्षण करने से तुम्हें काम है या रसदार रसोई से । राक्षस ने कहा - तो रसदार रसोई मुझे दो, तब उस मन्त्री ने कामघट के प्रभाव से उसकी इच्छा के अनुसार अपूर्व रसोई उसे देकर अच्छी तरह भोजन कराया । तब खुश होकर राक्षस ने कहा - तुमने ऐसी रसोई मुझे कहाँ से (लाकर) दी ? तब असत्य और पाप से डरने वाला धर्मी मन्त्री ने सत्य ही कहा कि- कामघट के प्रभाव से ।

यतः- क्योंकि -

सत्यवाचि विभवः पदे पदे, सत्यवाचि सुहृदः पदे पदे ।
सत्यवाचि सुयशः पदे पदे, सत्यवाचि सुखमेव सर्वतः ।।४८।।

सच बोलने वालों के पद-पद में ऐश्वर्य होता है, सच बोलने वालों के पद-पद में मित्र होते रहते हैं, सत्य बोलने वालों के पद-पद में यश-कीर्त्ति होती रहती है और सत्य बोलने से सभी तरह सुख ही होता है ।।४८।।

ततो राक्षसेन कामघटो याचितस्तदा मन्त्रिणोक्तम्-एवंविधं कामघटमहं कथं तवार्पयामि ? तेनोक्तम् - यदि त्वमर्पयिष्यसि तदाऽहमतःपरं हिंसां न करिष्यामि, तव च महत्पुण्यं भविष्यति। अहमपि तत्प्रतिफले सकलकार्यकरं रिपुशस्त्रनिवारकं देवताधिष्ठितं सर्वोत्तमं दण्डमर्पयिष्यामि, अतस्त्वं मे कामघटं समर्पय। मन्त्रिणोक्तमहं समर्पयामि, तथापि तवाधर्मेण स सर्वथा न स्थास्यति।

फिर राक्षस ने कामघट मांगा। तब मन्त्री ने कहा - इस तरह का कामघट मैं तुम्हे कैसे दूं ? उस राक्षस ने कहा - यदि तुम मुझे कामघट दोगे तो मैं अब यहाँ से आगे हिंसा नहीं करूंगा और इससे तुम को बड़ा पुण्य होगा। मैं भी इसके बदलें में सब कार्य करनेवाला, शत्रु के शस्त्र को निवारण करने (रोकने) वाला देवता से अधिष्ठित सर्वश्रेष्ठ दण्ड (डंडा-लाठी) दूंगा। इसलिए तुम मुझे कामघट दो। मन्त्री ने कहा मैं देता हूँ - मगर तुम्हारे अधर्म (पाप) से वह कामघट तुम्हारे पास किसी तरह भी नहीं रहेगा।

यतः- क्योंकि -

चिन्तामणिः कामकुम्भः, सुरभिः सुरपादपः।
कनकं रजतं तिष्ठेत्, नैव पापिनिकेतने ॥४९॥

चिन्तामणि, कामघट, कामधेनु, कल्पवृक्ष, सोना और चांदी पापी के घर में कभी नहीं रहते ॥४९॥

तदा निशाचरेणोक्तम्-अहं सम्यक् प्रयत्नेनैनं स्थापयिष्यामि, इत्युक्ते मन्त्रिणा दण्डप्रभावं स्वोपयोगिनं ज्ञात्वा पुनश्चिन्तितं स्वमनसि-यद्यहमस्य प्रार्थनाभङ्गं विधास्ये तर्हि मे सर्वतो नीचपदत्वमापत्स्यते।

तब राक्षस ने कहा – मैं अच्छी तरह यत्नपूर्वक (कामघट) को रखूंगा। इस तरह राक्षस के कहने पर मन्त्री ने दण्ड के माहात्म्य को अपने लिए उपयोगी जानकर फिर मन में विचार किया यदि मैं इस की प्रार्थना भंग करता हूँ तो मैं सभी तरह नीच पद को प्राप्त हो जाऊंगा।

यतः– क्योंकि –

तण लहुयं तुस लहुयं, तणतुसमज्झे वि पत्थणालहुयं।
ताहं चिय कुण लहुयं, पत्थणभंगो कओ जेण ॥५०॥

(संस्कृत छाया) –

तृणं लघुकं तुषो लघुकः तृणतुषमध्येऽपि प्रार्थना लघ्वी।
तस्माच्चैव को लघुः ? प्रार्थना–भङ्गः कृतो येन ॥५०॥

तृण (तिन का) लघु (क्षुद्र–छोटा) है, तुष (भूसा–अन्न के ऊपर का छिलका) क्षुद्र है और तृण तथा तुस से भी प्रार्थना छोटी है, क्षुद्र है। और उससे भी लघु कौन है ? जिसने प्रार्थना का भंग किया अर्थात् किसी की प्रार्थना (याचना) का भंग करना सब से अधिक क्षुद्रता है, नीचता है या हलकापन है या अत्यन्त लघुता है, कहा भी है –

"रहिमन वे नर मर चुके जे कछु मांगन जांहि।
उनते पहले वे मुए जिन मुख निकसत नांहि" ॥५०॥

इति विचिन्त्य स तं घटं तस्मै समर्पयित्वा तद्दत्तं दण्डं गृहीत्वा चाग्रे चचाल। अथ तस्य मन्त्रिणो गच्छतो द्वितीयदिवसे बुभुक्षा लग्ना, तदा तेन दण्डो लपितः– हे दण्ड ! त्वं मे भोजनं दास्यसि न वा ? तेनोक्तम्–भोजनदाने मे सामर्थ्यं नास्ति।

अथैवं क्षुत्पीडायामाहारनिषेधवार्तां श्रुत्वान्नचिन्तातुरो मन्त्री तमुवाच- एवं मा वद मम सर्वोदन्तक्षयकरी क्षुधा लग्नास्ति, यत्कथितं पूर्ववृद्धैस्तद्यथा-

यह विचारकर मन्त्री उस कामघट को राक्षस को देकर और राक्षस से दिया हुआ दण्ड लेकर आगे चला। अब जाते हुए उस मन्त्री को दूसरे दिन भूख लगी, तब उसने दण्ड, से कहा – हे दण्ड ! तुम मुझे खाना दोगे या नहीं ? दण्ड ने कहा भोजन देने की मेरी शक्ति नहीं है। अब इस तरह भूख की पीड़ा में भोजन न देने की बात को सुनकर अन्न की चिन्ता से दुःखी मन्त्री ने दण्ड को कहा- ऐसा मत बोलो, क्योंकि मुझे सभी बात को बिगाड़ने वाली भूख लगी। जिसे पूर्व वृद्धों ने इस प्रकार कहा है। जैसे –

आदौ रूपविनाशिनी कृशकरी कामाग्निविध्वंसिनी,
प्रज्ञामन्दकरी तपःक्षयकरी धर्मस्य निर्मूलनी।
पुत्रभ्रातृकलत्रभेदनकरी लज्जाकुलच्छेदिनी,
सा मां पीडति सर्वदोषजननी प्राणापहारी क्षुधा ॥५१॥

भूख होने पर (अन्न न मिलने से) पहले प्राणी का चेहरा फीका पड़ जाता है, शरीर दुबला-पतला हो जाता है, कामाग्नि नष्ट हो जाती है, बुद्धि कम हो जाती है, तपस्या का क्षय हो जाता है, धर्म जड़ से उखड़ जाता है, पुत्र, भाई, स्त्री से मन-मुटाव हो जाता है, वही भूख मुझे सता रही है, जो सभी दोषों की माता है और प्राणों को हरने वाली है।।५१।।

मानं मुञ्चति गौरवं परिहरत्यायाति दीनात्मतां,
लज्जामुत्सृजति श्रयत्यदयतां नीचत्वमालम्बते।

भार्याबन्धु–सुहृत्सुतेष्यसुकृती नानाविधं चेष्टते,
किं किं यन्न करोति निन्दितमपि प्राणी क्षुधापीडितः ॥५२॥

भूख से तड़पता हुआ प्राणी, मान–मर्यादा और गौरव को छोड़ देता है, दीन हो जाता है, लज्जा छोड़कर निदर्यता को पकड़ता है और नीचवृत्ति (निंदनीय कर्म) को धारण करता है, स्त्री, भाई, मित्र और पुत्रों में अनेक तरह अधर्म (निंद्य–पाप) कर बैठता है, अधिक क्या? वे कौन ऐसे निंदित कार्य हैं जो भूख से तड़पते प्राणी नहीं करते अर्थात् भूख से छटपटाते हुए व्याकुल प्राणी सभी तरह के पाप करते देखे जाते हैं ॥५२॥

किं किं न कयं को न पुच्छिओ,कह कह न नामिअं सीसं ।
दुब्भरउअरस्स कए, किं न कयं किं न कायव्वं ॥५३॥

(संस्कृत छाया) –

किं किं न कृतं को न पृष्टः, कुत्र कुत्र न नामितं शीर्षम्।
दुर्भरोदरस्य कृते, किं न कृतं किं न कर्त्तव्यम् ॥५३॥

इस पापी पेट को पूरा करने के लिए क्या–क्या नहीं किया ? किसको नहीं पूछा ? कहाँ–कहाँ मस्तक नहीं नमाया ? और क्या नहीं किया ? और क्या नहीं करूंगा ? अर्थात् सब कुछ किया और करना भी पड़ेगा–केवल इस पापी पेट के लिए ही, आचार्य शंकर ने भी लिखा है –

"उदर–निमित्तं बहु–कृत–वेषः" ॥५३॥

प्रहरे दिवसे जाते, क्षुधा संबाधते तनुम् ।
धैर्यकार्यविनाशः स्या–त्त्वां विना म्रियतेऽशन! ॥५४॥

हे भोजन देव ! एक पहर दिन उठते ही भूख मेरे शरीर को बहुत तकलीफ देती है और तेरे बिना धैर्य और कार्य तो नष्ट होते ही हैं, पर प्राणी भी मर जाता है । कहा भी है -

भूखे भजन न होंहि गोपाला ।
लो यह अपनी कंठी माला ॥५४॥

अपि च-
और भी -

जीयन्ति खग्गछिन्ना, अहिमुहपडिया वि केवि जीयन्ति ।
जीयन्ति जलहिपडिआ, खुहाछिन्ना न जीयन्ति ॥५५॥

तलवार से काटे गये प्राणी प्रायः जी सकते हैं, सर्प के मुंह में पड़े हुए भी कोई जीते हैं और कोई समुद्र में गिरे हुए प्राणी प्रायः जी जाते हैं मगर भूख रूपी महा शस्त्र से काटे हुए प्राणी कभी जिंदा नहीं रह सकते ॥५५॥

मन्त्रिवाक्यमेवं निशम्य दण्डोऽवदत्–अन्यत्किमपि कार्यं कथय तदहं करिष्यामि, तर्हि कामघटमानयेति मन्त्रिणोक्ते समान–यामीत्युक्त्वाऽऽकाशमार्गेण दण्डश्चचाल, गतस्तत्र यत्र राक्षसः । तं कुट्टयित्वा द्वारं भङ्क्त्वा कामघटं च गृहीत्वा स मन्त्रिसमीपे समागतः । मन्त्रिणाथ स कामघट आभाषितस्त्वं तत्र किं समाधिना स्थितः ? घटेनोक्तं क्व मे समाधिः ? कुतस्त्वं मां तस्मै अधर्मिणे–ऽदाः । तेन नाममात्रमपि मे सुखं कथं भवेत् ? मम तु धर्मवतामेव समीपे समाधिर्नान्यत्र । लोकेऽपि सदृशेषु सदृशा एव समानन्दन्ति।

इस तरह मन्त्री की बात सुनकर दण्ड बोला और कोई दूसरा

काम कहो तो वह मैं करूंगा । तब मन्त्री ने कहा कि कामघट ले आओ, ऐसा मन्त्री के कहने पर दण्ड ने कहा कि- अभी लाता हूं, ऐसा कहकर आकाश के मार्ग से चला- और वहाँ गया जहाँ राक्षस था । वहाँ उस राक्षस को खूब मार पीटकर उसके द्वार को तोड़ ताड़कर और कामघट को लेकर मन्त्री के पास चला आया । तब मन्त्री ने उस कामघट को कहा कि- तुं राक्षस के यहाँ समाधि (स्थिर-चित्त-अचल चित्त) से ठहरा था क्या ? कामघट ने कहा कि मेरी समाधि वहाँ कहाँ ? तुमने उस अधर्मी को क्यों दिया ? उससे कुछ भी सुख मुझे कैसे हो ? मेरी समाधि (चित्त-स्थिरता) तो धर्मी लोगों के ही पास होती है दूसरी जगह नहीं । लोक में भी समान गुण-धर्म वालों में समान गुण-धर्म वाले आनन्द अनुभव करते हैं ।

यतः- क्योंकि -

हंसा रच्चन्ति सरे, भमरा रच्चन्ति केतकीकुसुमे।
चन्दणयणे भुयङ्गा, सरिसा सरिसेहिं रच्चन्ति ।।५६।।

(संस्कृत छाया) -

हंसा रज्यन्ते सरसि भ्रमरा रज्यन्ते केतकी कुसुमे ।
चन्दन-यने भुजङ्गाः सदृशाः सदृशै रज्यन्ते ।।

हंस सरोवर में प्रीति करता है, भौंरा केतकी के फूलों में राग करता है, सर्प चंदन के वन में आनन्द मानता है और समान गुण धर्म वाले समान गुण धर्मवालों में प्रेम करते हैं ।।५६।।

अतस्तत्पापिपार्श्वे लेशमात्रमपि समाधिर्मे नो जातः । ततस्ते-नातिक्षुधाकुलाय मन्त्रिणे मनोऽभीप्सितं भोजनं दत्तं ततस्ते द्वे वस्तुनी लात्वा सचिवोऽग्रे चचाल । अथाऽस्मिन्नवसरे पूर्वदेशीय

एकः श्रेष्ठिवर्यो महालाभमधिगम्य लक्षसंख्यामितं जनसङ्घं संमील्य शत्रुञ्जयादि-पञ्चतीर्थियात्राकरणाय तेन सङ्घेन साकं निस्ससार। स सङ्घलोको मार्गग्रामस्थतीर्थानि समभिवन्दमानोऽनुक्रमेण शत्रुञ्जयं समागात्। तत्र ऋषभजिनस्य गिरनारे नेमिजिनस्य चाष्टाह्निकमहोत्सवेन पूजाभक्तिभिः सधर्मिवात्सल्यैर्मुनिभ्यो बहुतरैर्दानसम्मानैश्च सम्यग् जैनशासनोन्नतिं विधाय स्वजन्म-साफल्यं मन्यमानः शास्त्रवर्णिततीर्थयात्राफलभावनां भावयमान-स्तीर्थं तुष्टाव ।

इसलिए उस पापी के पास थोड़ी भी मुझे समाधि (सुख चैन) नहीं हुई । फिर कामघट ने भूख से पीड़ित मन्त्री को इच्छित भोजन दिया, बाद में दोनों चीजों को लेकर मन्त्री आगे चला । अब इसी बीच में पूर्व देश का एक बड़ा सेठ अधिक मुनाफा प्राप्तकर एक लाख मनुष्यों का एक संघ निकालकर शत्रुंजय आदि पंचतीर्थों की यात्रा के लिए उसी संघ के साथ निकला । वे संघ के लोग रास्ते में मिले हुए ग्राम-तीर्थों की वंदना करते हुए शत्रुंजय में आये । वहाँ भगवान् ऋषभ जिनेश्वर के और गिरनार में नेमि भगवान् के अष्टाह्निका महोत्सव के साथ पूजा-भक्ति के द्वारा और साधर्मिवच्छल कर मुनिवरों को अनेक तरह के दान और सम्मान से अच्छी तरह जिन शासन की उन्नति करके अपने जन्म को सफल मानते हुए शास्त्रों में कहे हुए तीर्थयात्रा के फलों की भावना को विचारते हुए तीर्थ की स्तुति करने लगे ।

यतः - क्योंकि -

आरम्भाणां निवृत्तिर्द्रविणसफलता सङ्घवात्सल्यमुच्चै-
र्नैर्मल्यं दर्शनस्य प्रणयिजनहितं जीर्णचैत्यादिकृत्यं ।

तीर्थौन्नत्यं नितान्तं जिनवचनकृतिस्तीर्थसत्कर्मकृत्यं,
सिद्धेरासन्नभावः सुरनरपदवी तीर्थयात्राफलानि ।।५७।।

तीर्थों की यात्रा करने से आरंभ (कर्मों) की निवृत्ति होती है, द्रव्य मिलता है, संघ में सद्भाव होता है, दर्शन की निर्मलता होती है, प्रेमी जनों के हितकारी होता है, जीर्ण चैत्य का पुनरुद्धार होता है, तीर्थों की अत्यधिक उन्नति होती है, जिनेश्वर के वचन पाले जाते हैं, तीर्थों में सत्कार्य का काम होता है, सिद्धि नजदीक आती है, देवता या मनुष्य की योनि प्राप्त होती है ।।५७।।

छट्ठेणं भत्तेणं, अपाणएणं तु सत्तजत्ता य ।
जो कुणइ सत्तुंजए, सो तइए भवे लहइ सिद्धिं ।।५८।।

(संस्कृत छाया)-

षड्भिः भक्तैः अपानकैः तु सप्त यात्राश्च ।
यः करोति शत्रुञ्जये स तृतीये भवे लभते सिद्धिम्।।५८।।

जो प्राणी शत्रुंजय तीर्थराज में भक्तिपूर्वक निर्जलाहार रहकर छठ (दो उपवास) करता है और सात बार यात्रा करता है वह तीसरे जन्म में सिद्धि को प्राप्त होता है ।।५८।।

श्रीतीर्थपान्थरजसा विरजीभवन्ति,
तीर्थेषु बम्भ्रमणतो न भवे भ्रमन्ति।
तीर्थव्ययादिह नराः स्थिरसंपदः स्युः,
पूज्या भवन्ति जगदीशमथार्चयन्तः ।।५९।।

प्राणी तीर्थों के मार्ग की धूली से निष्पाप (पवित्र) होते हैं, तीर्थों में विशेष यात्रा करने से संसार में नहीं घूमते- अर्थात् जन्म

नहीं लेते, तीर्थ में खर्चा करने से स्थिर (अचल) लक्ष्मी (सम्पत्ति) प्राप्त होती है और तीर्थेश्वर भगवान् की पूजा करता हुआ मनुष्य संसार में पूज्य हो जाता है ।।५९।।

जाएण वि किं तेण, अहवा किं तेण मणुअजम्मेण ।
सत्तुंजयो न दिट्ठो, न वंदिओ जेण रिसहजिणो ।।६०।।

(संस्कृत छाया) -

जातेनापि किं तेन अथवा किं तेन मनुजजन्मना ।
शत्रुञ्जयो न दृष्टो न वन्दितो येन ऋषभजिनः ।।

उसको जन्म लेने से क्या लाभ ? अथवा मनुष्य जन्म से क्या फायदा ? जिसने शत्रुंजय तीर्थराज को नहीं देखा और तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को वन्दना नहीं की ।।६०।।

अपि च -

और भी -

नमस्कारसमो मन्त्रः, शत्रुञ्जयसमो गिरिः ।
वीतरागसमो देवो, न भूतो न भविष्यति ।।६१।।

नमस्कार के समान कोई मंत्र, शत्रुंजय के समान कोई पर्वत, वीतराग (जिनेश्वर) के समान कोई देव न है और न होगा ।।६१।।

एवं स श्रीसङ्घस्तीर्थस्तवनं विधाय शुद्धभावनां च विभाव्य तदनन्तरं ततो निर्वर्त्तमानो मार्गे एकस्य मार्गस्थग्रामस्य समीपे स्थितः । अस्मिन् समये तेन मन्त्रिणा गच्छता स एव सङ्घो मार्गे विलोक्य चातीव हृष्टेन तेन जयजिनेन्द्रेतिभगवन्नामनिगदन-पूर्वकं नमस्कारं विधाय तेन सङ्घेन सह क्षेमकुशलादिवार्तालापो

विहितः । ततस्तेन मन्त्रिणा शास्त्रविचारदृष्ट्या महालाभं बुद्ध्वा स्वपार्श्वस्थं कामघटानुभावं विदित्वा च शुद्धभावनयातिबहुमानेन सहर्षभरेण स्वामिवात्सल्याय सङ्घो निमन्त्रितः । कुतः शास्त्रे सङ्घभक्तिफलमेवमुक्तम् -

इस तरह श्रीसंघ व तीर्थ की स्तुति करके और शुद्ध भावना करके बाद में वहाँ से लौटता हुआ रास्ते में एक गाँव के पास ठहर गया । इसी समय उस मन्त्री ने उसी मार्ग में जाते हुए उस संघ को देखा और देखकर अत्यन्त खुश होकर उसने 'जय जिनेन्द्र' इस भगवान् के नाम को कहता हुआ नमस्कार करके उसी संघ के साथ कुशल-मंगल की बातचीत की । फिर उस मन्त्री ने शास्त्र के विचारों की दृष्टि से बहुत लाभ समझकर अपने पास में रहे हुए कामघट के माहात्म्य को जानकर शुद्ध भावना द्वारा बहुमान पूर्वक हर्षित होकर स्वामी वात्सल्य (सामी वच्छल) के लिए संघ को निमन्त्रण (न्योता) दिया । क्योंकि शास्त्र में संघ-भक्ति का फल ऐसा कहा गया है :-

कदा किल भविष्यन्ति, मद्गृहाङ्गणभूमयः ।
श्रीसङ्घचरणाम्भोज-रजोराजिपवित्रिताः ॥६२॥

रुचिरकनकधाराः प्राङ्गणे तस्य पेतुः,
प्रवरमणिनिधानं तद्गृहान्तःप्रविष्टम्।
अमरतरुलतानामुद्गमस्तस्य गेहे,
भवनमिह सहर्षं यस्य पस्पर्श सङ्घः ॥६३॥

प्राप्तं जन्मफलं जने निजकुलाचारः प्रकाशीकृतः,
पुण्यं स्वीकृतमर्जितं शुचियशः शुभ्रा गुणाः ख्यापिताः।

दत्ता दुःखजलाञ्जलिः शिवपुरद्वारं समुद्घाटितं, यैः
सिद्धान्तनयेन शुद्धमनसा श्रीसङ्घपूजा कृता ।।६४।।

मेरे घर के आंगन की भूमि श्रीसंघ के चरण-कमल के रज की ढेर से पवित्र कब होगी ?

जिसके मकान को श्रीसंघ हर्षित होकर स्पर्श (प्रवेश) करता है, उसके आंगन में सोने की वर्षा होती है और घर के भीतर अच्छे मणियों का ढेर लग जाता है, एवं उसके घर में कल्पवृक्ष उत्पन्न हो जाता है ।

जिसने सिद्धान्त की नीति से- भगवान् के कहे हुए अनुसार पवित्र मन से संघ की पूजा की उसका जन्म सफल हो गया, अपने कुल का शुभ आचरण प्रगट कर दिया, पुण्य और निर्मल यश प्राप्त किया और अपने निर्मल गुण प्रसिद्ध कर दिया, दुःखों को जलांजलि (खत्म) कर दी और मोक्ष के (बंद) द्वार को उघाड़ दिया।।६२।।६३।।६४।।

तथा च-

और इसी तरह -

कल्पद्रुमस्तस्य गृहेऽवतीर्ण-श्चिन्तामणिस्तस्य गृहे लुलोठ ।
त्रैलोक्यलक्ष्मीरपि तं वृणीते, गृहाङ्गणं यस्य पुनाति सङ्घः ।।६५।।

जिसके घर के अंगन को संघ पवित्र कर देता है, उसके घर में कल्पवृक्ष उत्पन्न होता है और चिन्तामणि उसके घर में लोटती है एवं तीनों लोक की लक्ष्मी (संपत्ति) उसको वरण (पसन्द) कर लेती है ।।६५।।

कथम्भूतः स श्रीसङ्घो यथा-

वह श्रीसंघ कैसा है ? सो वर्णन करते हैं :-

रत्नानामिव रोहणः क्षितिधरः खं तारकाणामिव,
स्वर्गः कल्पमहीरुहामिव सरः पङ्केरुहाणामिव ।
पाथोधिः पयसां शशीव महसां स्थानं गुणानामसा-
वित्यालोच्य विरच्यतां भगवतः सङ्घस्य पूजाविधिः।।६६।।

रत्नों के लिए रोहण पर्वत के समान, तारों के लिए आकाश के समान, कल्पवृक्षों के लिए स्वर्ग समान, कमलों के लिए सरोवर के समान, जलों के लिए समुद्र के समान, शीतल ज्योति के लिए चन्द्रमा के समान और गुणों का स्थान श्रीसंघ की सेवा-भक्ति है, इसलिए उपर्युक्त बातों का विचारकर भगवान् के श्रीसंघ का पूजा-विधान सब को करना चाहिए ।।६६।।

परं तमेकाकिनं दृष्ट्वा तन्निमन्त्रणा तैस्सङ्घलोकैर्न मानिता, रन्धनं च प्रारब्धं किमेकाकिनो निःस्वस्य निमन्त्रणेनेति।

लेकिन उसको अकेला देखकर उसके निमन्त्रण को उन श्रीसंघ के लोगों ने नहीं माना और अपनी रसोई रांधना शुरू किया, यह समझकर कि इस अकेले दरिद्र के निमन्त्रण से इस बड़े श्रीसंघ के लोगों को क्या होने का है ? ।

यतः- क्योंकि -

ब्रह्मचारी मिताहारी, विनिद्रः शून्यमानसः ।
निःसङ्गो निष्परीवारी, भाति योगीव निर्धनः ।।६७।।

ब्रह्मचारी, अल्प (परिमित) भोजन करनेवाले, निद्रा रहित, शून्य-चित्त-वाले, अकेला और परिवार रहित जैसे योगी शोभता उसी तरह निर्धन (दरिद्र-गरीब) भी शोभता (रहता) है ।।६७।।

एवं सङ्घलोकानां वार्तामवगत्य ततो मन्त्रिणापि जलघटं

गृहीत्वा सङ्घमध्यस्थचुल्लिकेषु वारि निक्षिप्तं, उक्तं चाद्य केनापि रन्धयित्वा न भोज्यं, तथाविधमसमञ्जसं दृष्ट्वा व्याकुलीभूताः सङ्घपत्यादयो जनास्सम्भूय चिन्तयन्ति स्म ।

इस तरह संघ के लोगों की बात को जानकर मन्त्री ने भी जल से भरे घड़े को लेकर संघ के जलते हुए चुल्हाओं में पानी डाल दिया और कहा कि - आज किसी आदमी को रांधकर अपने यहाँ नहीं खाना चाहिए। इस तरह के असमंजस कार्य को (गड़बड़ी) देखकर व्याकुल हुए संघपति आदि इकट्ठे होकर विचार करने लगे ।

यतः- क्योंकि -

सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः,
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।
विचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं,
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥६८॥

अच्छी तरह पचा हुआ (खाया हुआ) अन्न, बुद्धिमान् आज्ञाकारी पुत्र, काबू में रही हुई गृहकार्य में चतुर स्त्री, अच्छी तरह सेवा किया हुआ राजा, अच्छी तरह शोच-समझकर कही हुई बात और विचार पूर्वक किया हुआ कार्य ये सब लंबे समय तक भी नहीं बिगड़ते ।।६८।।

अपि च-

और भी -

यन्त्रमेको द्वयोर्मन्त्रं, त्रिभिर्गीतं चतुष्पथम् ।
कृषिं च पञ्चभिः कुर्या - द्विचारं बहुभिः सह ॥६९॥

यंत्र का काम अकेले, दो मिलकर मंत्र, तीन से गाना, चार से रास्ता चलना, पांच से खेती और बहुत जन से राय लेकर विचार दृढ़ करना चाहिए ।।६९।।

अतोऽद्य वयं सर्वे किं करिष्यामः ? एष तु स्वोदरपूर्णकरणेऽप्यसमर्थः, पुनरस्माकमपि रन्धनं प्रतिषेधति । ततस्तन्मध्यात्कैश्चिद् वृद्धैरुक्तं, भोः सङ्घपत्यादिलोकाः ! अस्याप्याग्रहकारकस्याशाभङ्गो न विधेयो भवद्भिरद्यैवमेव भवत्वेष यत्स्वशक्त्या लवङ्गपूगीफलजलादिकमपि दास्यति तदेव खादित्वा वयं सर्वे स्थास्यामः। किमपरं कुर्मः ? अतो दातव्याज्ञा युष्माभिः, एवंविधं वृद्धवाक्यं श्रुत्वा सङ्घपतिराज्ञां तस्मै ददौ । आज्ञामादाय हर्षेणागतो मन्त्री स्वाश्रये पूजादिशुभकार्येष्वनुरक्तो बभूव । सङ्घजनानामाह्वानं बहुवेलापर्यन्तं न कृतं, तेन सर्वे उद्विग्नमनसः सन्तो विचारसमुद्रे निमग्नाः । किमद्यैष भोजनं दास्यति न वेति ?। इतो मन्त्रिणाप्यागत्य सादरं सङ्घ आकारितः, सङ्घोऽपि सन्देहदोलारूढः सन् तदुक्तस्थानेऽटव्यां चचाल । अग्रे गच्छन् दुकूलमयं रमणीयं मण्डपं दूरतो दृष्ट्वा हृष्टो विस्मितश्च । परस्परं जनाः पृच्छन्ति स्म किमिदं मण्डपं स्वर्गविमानं सत्यमसत्यं वा दृष्टिभ्रमो वा मृगतृष्णेन्द्रजालरजनी-स्वप्नदिव्यव्यतिकरवद् दृश्यते वा किमिदं? एवंविधं विचारं कुर्वन्तः सर्वे गतास्तत्र गमनानन्तरं हस्तेन मण्डपं विलोकयन्ति स्म । इतः प्रधानोऽपि तान् यथायोग्यस्थाने समुपावेशयत् । ततो घटप्रभावेण स्वर्णस्थालानि मण्डितानि चाऽष्टोत्तरशतसङ्ख्यामिताभिः षोडशशृङ्गारवतीभिः सुराङ्गनाभिः फलाद्यनुक्रमेण दिव्या रसवती परिवेषिता । तदाश्चर्यकारकं

समस्तं वस्तु विलोक्य ते सर्वे जनाः परस्परं पृच्छन्ति स्म । ईदृशानि सुस्वादूनि फलानीदृशी पक्वान्नरसवती च केनचित् क्वापि कदापि दृष्टाऽऽस्वादिता वा ? अपरैरुक्तं न क्वापि । भोजनानन्तरं तेनोद्गमनीयोत्तरासङ्गोष्णीषकुण्डलकेयूरस्वर्ण-प्रालम्बिकाः सकलश्रीसङ्घः परिधापितः । अथ चमत्कारपूरितेन सङ्घपतिना पृष्टं- भोः पुरुषोत्तम ! त्वयैतावत्कस्य बलेन कृतं?, तदाऽमात्येनोक्तं कामघटबलेन। मन्त्रिणोक्तकामघटप्रभावं निशम्य लोभाभिभूतेन सङ्घपतिनोक्तं-यदि मह्यं कामघटमर्पयिष्यसि तर्हि सर्वदा साधर्मिकवात्सल्यपुण्यं ते भविष्यति, त्वं तु धर्मार्थी दृश्यसे ।

इसलिए आज हम लोग क्या करेंगे ? यह तो अपना पेट भरने में भी असमर्थ है और हम लोगों को भी रांधने को मना करता है । तब उस संघ के बीच से किसी वृद्ध ने कहा – हे संघपति आदि लोको ! इस आग्रह करने वाले का भी आशाभंग मत करो । आज ऐसा ही हो, यह अपनी शक्ति से जो कुछ लवंग, सुपारी-जल आदि भी देगा वही खाकर हम लोग रहेंगे । और क्या करें ? इसलिए आप लोग आज्ञा दे दीजिए । इस तरह वृद्ध महाशय की बात सुनकर संघपति ने मन्त्री को आज्ञा दे दी । आज्ञा लेकर हर्ष के साथ मन्त्री अपने यहाँ आया और भगवान् की पूजा आदि करने लगा संघ के लोगों को कुछ अधिक देर तक भोजन के लिए नहीं बुलाया, उससे संघ के सभी लोग व्याकुल होकर विचार-सागर में डूबकर कहने लगे कि- क्या आज यह हम लोगों को भोजन देगा या नहीं ? । इधर मन्त्री ने भी आकर लोगों को बुलाया, संघ के लोग भी शक-संदेह करते हुए उसके कहे हुए जंगल के स्थान की ओर चले । आगे जाते हुए संघ के लोग उत्तम चादर बिछा हुआ सुन्दर मंडप को कुछ दूर से ही

देखकर खुश और विस्मित (चकित) होकर एक दूसरे से पूछने लगे- क्या यह मंडप है या स्वर्ग का विमान है ? यह सत्य है या मिथ्या है ? या हम लोगों का दृष्टिभ्रम है ? या मृगतृष्णा है, या इन्द्रजाल है, किंवा रात में देखे हुए स्वप्न की तरह यह क्या है ? इस तरह विचार करते हुए वे सब लोग उस मंडप के पास गये और हाथ से मंडप को देखने लगे । इधर प्रधानमंत्री ने भी सब को यथायोग्य जगह पर बैठा दिया । उसके बाद कामघट के प्रभाव से सब के आगे सोने की थालियां देकर सोलहों शृङ्गार से सजी हुई एक सौ आठ सुर सुन्दरियों ने फल आदि अनुक्रम से अपूर्व दिव्य रसोई परोसी। उन सभी आश्चर्यकारक चीजों को देखकर वे लोग आपस में पूछने लगे - ऐसे मजेदार फल और ऐसी रसदार मिठाई किसी ने कहीं कभी देखी या खाई ? दूसरे ने कहा - कहीं नहीं । भोजन के बाद धोती पाग-दुपट्टे और सोने के कुण्डल हार आदि आभूषण सारे श्रीसंघ को पहना दिया । अब आश्चर्ययुक्त होकर संघपति ने मन्त्री से पूछा - हे पुरुष श्रेष्ठ ! तुमने इतना किसके बल से किया ? तब मन्त्री ने कहा- कामघट के बल से । मन्त्री ने कहे हुए कामघट के प्रभाव को सुनकर लोभ से ग्रसित संघपति ने कहा - यदि मुझे तुम कामघट दे दोगे तो तुम को साधर्मिक वात्सल्य (प्रेम) का पुण्य होगा, तुम तो पुण्यात्मा दीखते हो ।

यतः- क्योंकि -

लक्ष्मीः परोपकाराय, विवेकाय सरस्वती ।
सन्ततिः परलोकाय, भवेद्धन्यस्य कस्यचित् ॥७०॥

लक्ष्मी परोपकार के लिए, सरस्वती (विद्या) ज्ञान के लिए, संतान परलोक के लिए किसी धन्य पुरुष के ही होते हैं ।।७०।।

अपरं मे सर्वरोगविषशस्त्रघाताद्युपद्रवनिवारकं चामरयुगलं

त्वं गृहाण, कामघटं मह्यं समर्पय, कुतो महतामपि लोभो दुर्जयः।

और मेरा सब रोग, विष, शस्त्रघात आदि उपद्रवों को दूर करने वाले दोनों चामरों को तुम ले लो, कामघट मुझे दे दो, क्योंकि बड़ों को भी लोभ दुर्जेय है ।

यतः- क्योंकि -

दीसंति खमायंता, नीहंकारा पुणो वि दीसंति ।
निल्लोहा पुण विरला, दीसंति न चेव दीसंति ॥७१॥

(संस्कृत छाया) -

दृश्यन्ते क्षमायन्तः निरहङ्कारः पुनरपि दृश्यन्ते ।
निर्लोभा पुनर्विरला दृश्यन्ते न चैव दृश्यन्ते ॥७१॥

दयालु देखे जाते है और अहंकार रहित भी देखे जाते हैं, किन्तु इस संसार में लोभ रहित विरले ही देखे जाते है और नहीं भी देखे जाते हैं ।।७१।।

सङ्घपतेरेवं वचनं निशम्य मन्त्रिणोक्तम्-सन्तुष्टेन देवेन यो यस्याऽर्पितो भवति तत्रैव स तिष्ठति, नाऽन्यत्र । तदा काम-घटार्थी सङ्घपतिः कथयति स्म त्वं तु सकृदर्पय तिष्ठतु वा मा तिष्ठतु। ततो मन्त्रिणा तस्याऽत्याग्रहं विलोक्य तच्चामरयुगलं गृहीत्वा स्वकामघटः समर्पितः । तदनु हृष्टः सन् सङ्घपतिर्मन्त्री च स्वं स्वं स्थानं प्रति चलितौ ।

अथ द्वितीयदिवसे बुभुक्षितो मन्त्री दण्डं प्रति वक्ति स्म-भो दण्ड! सर्वतोऽप्यशुभाऽसह्यवेदनाकारी क्षुधा मां बाधते ।

संघपति की ऐसी बात सुनकर मन्त्री ने कहा - देवता संतुष्ट होकर

जो वस्तु जिसको देता है वह वहीं रहती है, दूसरी जगह नहीं । तब कामघट का लालची संघपति कहने लगा– तुम मुझे एकबार अर्पण तो करो पीछे वह मेरे यहाँ रहे या नहीं रहे । फिर मन्त्री ने उसका अधिक आग्रह देखकर उससे दोनों चामर लेकर अपना कामघट उसे दे दिया । बाद में दोनों हर्षित होकर अपने अपने स्थान में चल दिये ।

अब दूसरे दिन भूखा मन्त्री दण्ड को कहने लगा– हे दण्ड ! सब से भी खराब, नहीं सहन करने योग्य वेदना वाली क्षुधा (भूख) मुझे सता रही है ।

उक्तं च–

कहा भी है –

क्षुधे रण्डे! ब्रवीषि त्वं, मातर्भ्रातर्भगिन्यये! ।
बहिष्कृतं हतं लोके, स्वस्थानं ह्यानयस्यहो! ॥७२॥

अरी रांड़ ! भूख ! हे माई, हे भाई और हे बहन, तूं ही बोलती है, लोक में समाज से बाहर किये गये और दूर हटाए गये को तूं ही अपने स्थान में लाती है, आश्चर्य है ॥७२॥

अपि च–

और भी –

गीतं नादविनोदपण्डितगुणाः श्रीखण्डकान्ताधरा,
अश्वस्यन्दननागभोगभवनं कर्पूरकस्तूरिके ।
रामारङ्गविनोदकाव्यकरणं कामाभिलाषाऽपि च,
सर्वे ते हि पतन्ति कन्दरदरे ह्यन्नं विना सर्वथा ॥७३॥

मन हरण करनेवाले अच्छे आवाज (स्वर) से युक्त गाना,

पण्डितों के गुण, श्रीखण्ड (चन्दन), रमणी का अधर-ओष्ठ, घोड़े, रथ, हाथी, भोग-विलास और महल, कर्पूर, कस्तूरी, विलासिनी-सुन्दरियों के साथ क्रीड़ा, (खेल-कौतुक), काव्य का आनन्द, और काम की अभिलाषा ये सब अन्न के बिना कंदर दरी (पहाड़ के गड्ढे) में जा गिरते हैं ।।७३।।

अतो मह्यं भोजनं देहि, दण्डेनोक्तं-ममैतन्न सामर्थ्यं, यदि त्वं वदेस्तर्हि भोजनदं कामघटमानयामीत्युक्ते मन्त्री मौन एव स्थितः । ततो दण्डः स्वयमेव कामघटमानेतुं पक्षिवदाकाशे समुड्डीय सङ्घमध्ये गतः । पार्श्वस्थान् सुभटानाहत्य तेषां खड्गखेटकादीन् तिरस्कृत्य मञ्जूषां च भङ्क्त्वा बहून् सुभटान्निर्जित्य तेन सङ्घपतिनातियत्नेन रक्षितं कामघटं गृहीत्वा पश्चात्त्वरितमागतः। ततो हर्षेण तेन घटेन मन्त्रिणे भोजनं दत्तम् । अथ मन्त्री वस्तुत्रयं लात्वा स्वनगरं न्यवर्तिष्ट । पथि चलन् विचारयति स्म मे धर्मप्रभावतः सर्वाशा धर्मप्रतिज्ञा च सम्पूर्णा जाता । पुनस्संसारे यावन्ति सद्वस्तूनि प्राप्यन्ते तत्समस्तं सद्धर्ममाहात्म्येनैव ।

इसलिए मुझे भोजन दो, दण्ड ने कहा- यह मेरी शक्ति नहीं, यदि तुम कहो तो भोजन देने वाले कामघट को ला दूँ, ऐसा कहने पर मन्त्री चुप रह गया । तब दण्ड स्वयं ही कामघट लाने के लिए पक्षी के जैसा आकाश में उड़कर संघ के बीच में चला गया । संघ के पास में रहे हुए यौद्धाओं को मार पीटकर उनकी तलवार बरछी आदि को तिरस्कार कर पेटी को तोड़कर बहुत वीरों को जीतकर उस संघपति से यत्नपूर्वक रखे हुए कामघट को लेकर शीघ्र चला आया । फिर हर्ष से उस कामघट ने मन्त्री को भोजन दिया । फिर मन्त्री उन तीनों वस्तुओं को लेकर अपने

नगर को लौटा। रास्ते में चलता हुआ विचार करने लगा- धर्म के प्रभाव से ही मेरी सारी आशाएँ और प्रतिज्ञा पूरी हुई और इस संसार में जितनी अच्छी वस्तुएँ मिलती हैं वे सब धर्म के माहात्म्य से ही मिलती हैं।

तदुक्तं च-

कहा भी है -

जैनो धर्मः प्रकटविभवः सङ्गतिः साधुलोके,
विद्वद्गोष्ठी वचनपटुता कौशलं सर्वशास्त्रे।
साध्वी लक्ष्मीश्चरणकमलोपासना सद्गुरूणां,
शुद्धं शीलं मतिरमलिना प्राप्यते भाग्यवद्भिः ॥७४॥

जैनधर्म, ऐश्वर्य, साधुओं की संगति, विद्वानों की सभा, वचन की चतुराई, सभी शास्त्रों में कुशलता, स्थिर लक्ष्मी, सद्गुरुओं के चरण कमलों की उपासना, शुद्ध शील (सदाचरण) और निर्मल बुद्धि ये भाग्यवान् (धर्मात्मा) ही को प्राप्त होते हैं ।।७४।।

पत्नी प्रेमवती सुतः सविनयो भ्राता गुणालङ्कृतः,
स्निग्धो बन्धुजनः सखातिचतुरो नित्यं प्रसन्नः प्रभुः।
निर्लोभोऽनुचरः स्वबन्धुसुमुनिप्रायोपयोग्यं धनं,
पुण्यानामुदयेन संततमिदं कस्याऽपि संपद्यते ॥७५॥

प्यारी स्त्री, विनीत पुत्र, गुणी भाई, स्नेह करने वाला बान्धव, चतुर मित्र, खुशदिल स्वामी, लोभ रहित सेवक, अपने कुटुम्ब-परिवार और साधु-संत के उपयोग में आवे वैसा योग्य धन, ये सब पुण्य के उदय से ही किसी को होते हैं ।।७५।।

तथा च-

और उसी तरह -

यत्कल्याणकरोऽवतारसमयः स्वप्नाश्च जन्मोत्सवो,
यद्रत्नादिकवृष्टिरिन्द्रजनिता यद्रूपराज्यश्रियः ।
यद्दानं व्रतसंपदुज्ज्वलतरा यत्केवलश्रीर्नवा,
यद्रम्यातिशया जिने तदखिलं धर्मस्य विस्फूर्जितम् ।।७६।।

जिनेश्वर भगवान् में जो कल्याणकारी अवतार का समय हुआ, चौदह स्वप्न हुए, जन्म का महोत्सव हुआ, इन्द्र के द्वारा जो रत्न आदि की वर्षा हुई और जो रूप तथा राज्य की शोभा हुई, जो दान हुए तथा उज्ज्वल व्रतों की संपत्ति हुई और जो नई केवल ज्ञान की संपत्ति हुई तथा जो सुन्दर अतिशय हुए वह सब धर्म का ही माहात्म्य है।।७६।।

स मन्त्र्येवं धर्ममहिमानं विमृशन् परदेशादल्पदिनैरेव स्वगृहमाजगाम । अथ स राजा मन्त्र्यागमनं विज्ञाय तस्मिन्नेव दिवसे तस्य धर्माधर्मपरीक्षाकरणार्थं बीजपूरकद्वयमानाय्यैकस्य बीजपूरकस्य मध्ये सपादलक्षमूल्यं रत्नं क्षिप्त्वैकस्य जनस्य हस्ते विक्रयार्थं समर्पितवान्, तस्मै चोक्तम्-शाकचतुष्पथे शाकविक्रयकारिणे त्वयैतत्समर्पणीयम् । यावत्पर्यन्तमेतत्कोऽपि न गृह्णीयात्तावत्त्वया तत्रैव प्रच्छन्नवृत्त्या स्थेयम् । यदा कोऽपि गृह्णीयात्तदा तस्याऽभिधानं मदग्रे वाच्यं, तेन जनेन तथैव समस्तं स्वीकृतम् ।

वह मन्त्री इस तरह धर्म की महिमा का विचार करता हुआ परदेश से थोड़े ही दिनों में अपने घर में आ गया । अनन्तर वह राजा मन्त्री का आना जानकर उसी दिन उसके धर्म-अधर्म की परीक्षा करने के लिए दो बीजपूरक (अमरुद) मंगवाकर एक के बीच में सवा लाख मूल्य

का एक रत्न डालकर बेचने के लिए एक आदमी (चर) के हाथ में दे दिया और उसको कह दिया कि - शाक के चौराहे (चौक) पर शाक बेचने वाले को तुम यह दे देना और जब तक इसको कोई नहीं ले ले, तब तक तुम वहीं छिपकर रहना । जब कोई ले ले तब उसका नाम मुझे (मेरे पास आकर) कहना । उस चर ने उसी तरह सब अंगीकार कर लिया ।

यतः- क्योंकि -

कवीनां प्रतिभाचक्षुः, शास्त्रं चक्षुर्विपश्चिताम् ।
ज्ञानं चक्षुर्महर्षीणां, चारश्चक्षुर्महीभुजाम् ॥७७॥

कवियों की प्रतिभा (नव नवोन्मेषशालिनी बुद्धि) ही चक्षु है, पण्डितों का शास्त्र ही चक्षु है, महर्षियों का ज्ञान ही चक्षु है और राजाओं का चर (पता लगाने वाला नौकर गुप्तदूत, जासूस-सी० आइ० डी०) ही चक्षु है ॥७७॥

ततो मन्त्रिणो गृहागमनानन्तरं मन्त्रिणो मार्गतापोपशान्त्यर्थं तदैव मन्त्रिजायया प्रेषितदासी तत्रागत्य तदेव बीजपूरकं रत्नगर्भितं गृहीत्वा मन्त्रिणे समर्पितवती, मन्त्रिणापि तद्भक्षितं तन्मध्याच्च रत्नं गृहीतम् । अथ तेन जनेन सर्वं वृत्तान्तमवलोक्य राज्ञोऽग्रे वृत्तं सर्वमुक्तं, तन्निशम्य राज्ञा चिन्तितम्- अहो ! एतदपि नूनं धर्ममाहात्म्यमेवेति तेनावधारितम् । अथ रात्रौ मन्त्रिणा धर्मासादित-कामघटप्रभावेण सप्तभूमिकः स्वर्णमयावासः कृतः, तत्र रक्तरत्न-खचितानि स्वर्णकपिशीर्षकानि भान्ति स्म । द्वात्रिंशद्वादित्रोपेतं दिव्यगीतनाट्यान्वितं नाटकं बभूव । एतदद्दृष्ट्वा श्रुत्वा च राजा चमत्कारं गतस्सन् चिन्तयति स्म । किमयं स्वर्गः किमिन्द्रजालं वा स्वप्नं वा पश्यामीति विचारयन्निशायां सुष्वाप । ततः प्रभाते

जायमाने स्वानुचरं पृष्टवान्, तदा तेन कथितं – स्वामिन्निदं नृत्यं निशायां मन्त्रिणा कामघटप्रभावेण स्वर्णमयवप्ररत्नमयकपि-शीर्षकद्वात्रिंशद्बद्धनाट्ययुतं सौधोत्तममाविष्कृतम् । इतः प्रातर्मन्त्री राज्ञे धर्मफलप्रदर्शनार्थं दिव्यवस्त्राणि परिधाय रत्नैः स्वर्णस्थालं भृत्वा राज्ञा मिलितः । राज्ञा पृष्टं- एतावन्ति रत्नानि कुतः प्राप्तानि मन्त्रिणोक्तं धर्मप्रभावात् । पुना राज्ञोक्तं रात्रौ स्वर्णमयावा-सोपरि द्वात्रिंशद्बद्धनाटकं तवैवासीत् ? तेनोक्तं ममैव । ततस्त-दावासं द्रष्टुकामेन राज्ञा मन्त्रिणं प्रत्युक्तं, त्वं सकृत्स्वल्पपरिवारेण मासप्रान्तेऽपि स्वगृहे मां भोजय। तदा मन्त्रिणोक्तं स्वामिन्नद्यैवाहं श्रीमन्तं भोजयिष्यामि । अतस्तव देशमध्ये यावान्मेलापकोऽस्ति तावन्तं मेलापकं गृहीत्वा मद्गृहे समागन्तव्यम्। नूनं यथायोग्य-युक्त्या भवन्तमहं भोजयिष्यामि । एतन्निशम्य राजा चिन्तयति स्म अहो ! वणिग्मात्रस्य मन्त्रिणः कियत्साहसं ? नूनमेतेन मम मेलापकः पानीयमपि पाययितुं न शक्यते । *एतत्तु पिपीलिकागृहे गतगजराजप्राघूर्णकवद् ज्ञेयम् ।* अतः किं पुनर्भोजनं कारयितुं शक्यते ?, तदा रुष्टेन राज्ञा मन्त्रिवार्तामन्यथा करणाय तद्दिन एव स्वभृत्यान्प्रेष्य स्वसर्वदेशमेलापको मेलितः । अथ राज्ञा सचिवालये सचिवस्वरूपदर्शनार्थं स्वचरः प्रेषितः, कियती भोजन-सामग्री जायमानाऽस्तीति विलोकय । तेनाऽपि तत्रागत्य यदा-मात्यालयस्वरूपं विलोकितं, तदा क्वापि मुष्टिमात्राप्यन्नसामग्री नाऽवलोकिता । पुनः सोऽमात्यस्तु सप्तमभूमौ सामायिकं गृहीत्वा नमस्कारमन्त्रं जपंस्तेन दृष्टः, ततस्तेन चरेण पश्चादागत्य तत्सर्वं स्वरूपं राज्ञे निवेदितं, तदाकर्ण्य भूपश्चिन्तयति स्म-नूनमेष मन्त्री

ग्रथिलो भूत्वा दूरं गमिष्यति पश्चान्मयैवैतेभ्योऽखिलेभ्यो भोजनं देयं भविष्यति । अतः किं कर्त्तव्यमिति विचारमूढो जातस्तेन विचार्य कार्यकरणं युक्तमेव ।

फिर मन्त्री के घर आने के बाद उसके रास्ते की गर्मी के उपशमन के लिए मन्त्री की स्त्री ने अमरुद लाने के लिए एक दासी बाजार में भेजी थी वह वही रत्न वाला बीजपूरक (अमरुद) लाकर मंत्री को दे दिया । मन्त्री ने भी वह खाया और उसके बीच से वह रत्न निकाल लिया । अब उस चर (गुप्तदूत) ने सभी हाल देखकर राजा के आगे सब बात कह दी । यह सुनकर राजा ने विचार किया । अरे ! पक्का, यह भी धर्म का प्रभाव ही है, ऐसा उसने अपने मन मे रखा । फिर रात में मन्त्री ने धर्म से प्राप्त उस कामघट के प्रभाव से सात भूमि वाला सोने का महल बनाया, उसमें लाल मणियों से जड़े हुए सोने के कपिशीर्ष चमक रहे थे । ३२ बत्तीस बाजों से युक्त देव-गान और नाच से युक्त नाटक हुआ । यह देखकर और सुनकर राजा आश्चर्य से चकित होकर विचार ने लगा । क्या यह स्वर्ग है ? या इन्द्रजाल है ? या स्वप्न देखता हूँ ? ऐसा विचारता हुआ रात्रि में सो गया । फिर प्रातःकाल में अपने नौकर को पूछा, तब उसने (नौकर ने) कहा - हे स्वामी ! यह नाटक रात्रि में मन्त्री ने कामघट के प्रभाव से किया और सोने का किला, मणियों के कपिशीर्ष और बत्तीस वाद्य और नाच से युक्त आलीशान महल बनाया । इधर मन्त्री सुबह में राजा को धर्म का फल दीखाने के लिए बेशकीमती कपड़े पहनकर सोने की थाली में रत्न भरकर राजा से मिला । राजा ने पूछा - इतने रत्न कहाँ से लाये ? मन्त्री ने कहा - धर्म के प्रभाव से । फिर राजा ने कहा - रात्रि में सुवर्ण के महल पर बत्तीस वाजों से युक्त तुम्हारा ही नाटक था ? मन्त्री ने कहा - हाँ मेरा ही था । तब उसके महल को देखने की इच्छा से राजा ने

मन्त्री को कहा - तुम एक महीने के भीतर थोड़े ही परिवार से युक्त मुझे भोजन कराओ । हे स्वामी ! आज ही मैं श्रीमान् (आप) को भोजन कराऊंगा । इसलिए आप के देश (राज्य) में जितने हित-मुहब्बत वाले हैं उन सभी को लेकर आप मेरे घर पर अवश्य पधारें । अवश्य ही आप के योग्य यथाशक्ति मैं आप को भोजन कराऊंगा । यह सुनकर राजा विचार में पड़ गया । अरे ! यह बनिया-बकाल है, इसकी शक्ति कितनी ? अवश्य यह आज मेरे मित्रों को पानी भी नहीं पिला सकेगा । यह तो चींटी के घर में गये हुए गजराज पाहुने के जैसा जानना चाहिए । इसलिए यह भोजन क्या करायगा ? फिर रंज होकर राजा ने मन्त्री की बात को मिथ्या करने के लिए उसी दिन अपने दूतों को भेजकर अपने सभी मित्रों को बुलवाया । बाद में राजा ने मन्त्री के घर में उसके भोजन की सामग्री-इन्तजाम देखने के लिए अपना गुप्तदूत भेजा और कहा कि- मन्त्री के घर में कितनी भोजन की सामग्री है यह जाकर देखो । उस गुप्तदूत ने भी वहाँ जाकर मन्त्री का घर देखा तब कहीं भी एक मुट्ठी भी अन्न की सामग्री नहीं देखी और फिर उसने सप्तभूमि (महल) में सामायिक लेकर नमस्कार मंत्र को जपते हुए मन्त्री को देखा- फिर उस चर ने पीछे लौटकर वहाँ का सारा हाल राजा को कह सुनाया । वह सुनकर राजा विचार करने लगा- निश्चय यह मन्त्री पागल-दुःखी होकर दूर चला जायगा और पीछे मुझे इन सभी को भोजन देना पड़ेगा- इसलिए अब क्या करना चाहिए ? इस तरह विचार मूढ़ (जकथक) हो गया । इसलिए विचारकर ही काम करना ठीक होता है (ऐसा सोचा) ।

यतः-

कहा भी है -

सहसा विदधीत न क्रिया-मविवेकःपरमापदां पदम् ।

वृणते हि विमृश्य कारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥७८॥

सहसा (बिना विचारे-एकाएक) कोई काम नहीं करना चाहिए, क्योंकि अविचार आपत्तियों का स्थान (घर) है। शोच-समझकर काम करने वालों को संपत्ति स्वयं वरण करती (अपनाती) है, क्योंकि, संपत्ति गुण की लोभी है ॥७८॥

एतस्मिन्नन्तरे मन्त्री समागतस्सन् विज्ञपयामास- स्वामिन्! समागम्यतां रसवती शीतला जायते। तन्निशम्य भूपेनोक्तं - हे मन्त्रिन् ! मयापि सह किं त्वया हास्यं प्रारब्धम् ? यतस्तवालये स्वल्पापि भोजनसामग्री नास्ति। तदा सचिवेनोक्तं - हे स्वामिन्! सकृत्पादाववधार्य विलोक्यतां सर्वा सामग्री प्रस्तुताऽस्ति। तदा धराधवः सपरिकरः प्रचलितो मार्गे च रोषारुणश्चिन्तयति स्म-एष यदि भोजनं न दास्यति तदा विविधविडम्बनया विगोपयिष्यामीति दुर्विचारः कोपवशेन तेन कृतः।

इसी बीच में मन्त्री ने आकर राजा को विनीत होकर सूचना दी कि- हे स्वामी ! शीघ्र पधारें, रसोई ठंड़ी हो रही है। यह सुनकर राजा ने कहा - हे मन्त्री ! मेरे साथ भी तूने मस्करी करना क्या शुरू कर दिया ? क्योंकि तेरे मकान में थोड़ी भी भोजन सामग्री नहीं है। तब मन्त्री ने कहा- स्वामिन् ! एक बार अपने चरणों से आकर (पधारकर) जरा देख लें, सारी सामग्री तैयार है। तब राजा अपने नौकर-चाकर दोस्त-महीम के साथ चला और मार्ग में क्रोध से लाल शुर्ख होकर विचार ने लगा- यदि यह (मन्त्री) हमको आज भोजन नहीं देगा तो अनेक तरह की विडंबना देकर उसको दुःखी करूंगा यह विचार उसने कोप के अधीन होकर किया।

तदुक्तं च-

और कहा भी है –

सन्तापं तनुते भिनत्ति विनयं सौहार्दमुत्सादय–
त्युद्वेगं जनयत्यवद्यवचनं ब्रूते विधत्ते कलिम् ।
कीर्त्तिं कृन्तति दुर्गतिं वितरति व्याहन्ति पुण्योदयं,
दत्ते यः कुगतिं स हातुमुचितो रोषः सदोषः सताम्।।७९।।

क्रोध पीड़ा को देता है, विनय को नष्ट करता है, मित्रता का भेदन करता है, उद्वेग को उत्पन्न करता है, बुरा बचन बोलता है, झगड़ा करता है, कीर्त्ति को काट डालता है, दुर्गति को देता है, पुण्य को मार भगाता है और खराब गति (नरकगति) को देता है, इसलिए क्रोध बहुत बुरा है, बुद्धिमानों को इसे छोड़ देना चाहिए ।।७९।।

कोह पइट्ठिओ देहधरि, तिण्णि विकार करेइ ।
आप तपे पर संतपे, धणणी हाणि करेइ ।।८०।।

(संस्कृत छाया)–

क्रोधः प्रतिष्ठितः देहगृहे त्रीन् विकारान् करोति ।
स्वयं तपति परं संतापयति धनस्य हानिं करोति ।।

देह रूपी घर में क्रोध के रहने से तीन विकार होते हैं, क्रोध स्वयं को तपाता है और दूसरों को पीड़ित करता है तथा धन का नाश करता है ।।८०।।

लग्गो कोह–दयानलो, डज्झइ गुणरयणाइं ।
उवसमजले जो ओलवे, न सहइ दुक्खसयाइं ।।८१।।

(संस्कृत छाया)–

लग्नः क्रोधदवानलः दाहयति गुणरत्नानि ।
उपशम-जले यो मज्जति न सहते दुःख-शतानि ।।

इस दुर्लभ मानव शरीर में लगा हुआ यह क्रोध रूपी दवानल (वन की आग) गुण रूपी रत्नों को जला डालता है, जो उपशम रूपी जल में स्नान करता है वह क्रोध जनित सैकडों दुःखों को नहीं सहता (भोगता) है ।।८१।।

ततो मनुष्यलक्षैः परिवृतो नृपतिस्तद्द्वारसमीपमागतः। तत्रस्थ एव तद्गेहाडम्बरं विलोक्य विचिन्तयति स्म-किमेषः स्वर्गः, किमिन्द्रजालं वा, किमिदं सत्यमसत्यं वा ?, यथा यथा तममात्यालयमण्डपं पश्यति तथा तथा राजा स्वमनसि चिन्तयति स्म-किमनेन मन्त्रिणाऽद्यैवेदृशमिन्द्रजालं विकीर्याहं विप्रतारितः? एवमनेकप्रकारचिन्तासमुद्रनिमग्नो विचारयति स्म । अथ राजान्ये च लोकास्तं मुहुर्मुहुरवलोक्यातीव भ्रान्तिपतिताः, यथा शुद्धस्वर्ण-परीक्षानभिज्ञा अमूल्यकं स्वर्णमपहाय गच्छन्ति । तथा तेऽपि ततः स्वस्थानं प्रतिगन्तुमिच्छुकाः संजाता अग्रे नो गच्छन्ति स्म । अस्मिन्नवसरे शीघ्रमागत्य मन्त्रिणा भूपतिं लोकांश्च स्वकरेणाभि-गृह्य स्वकरेणाभिगृह्य यथोचितस्थाने सर्वेषामुपवेशनार्थमासनानि दत्तानि। ततो मन्त्रिणा कामघटप्रभावेणैतादृशी दिव्यपक्वान्नरसवती परिवेषिता, यथा राजादयः सर्वेऽपि जनास्तामश्रमेण सुखेन भक्षयामासुः प्रशशंसुश्च ।

अनन्तर लाखों मनुष्यों के साथ राजा उसके द्वार पर आया । वहीं रहा हुआ ही उसके घर के तड़क-भड़क-आडंबर देखकर विचार ने लगा-क्या यह स्वर्ग है ? या इन्द्रजाल है ? या सत्य है यह या झूठ ही झूठ है ?

जैसे-जैसे उस मन्त्री के घर के मंडप को देखता है वैसे-वैसे राजा अपने मन में विचार ने लगा- क्या आज इस मन्त्री ने ऐसा इन्द्रजाल फैलाकर के मुझे ठगा तो नहीं है ? इस तरह अनेक प्रकार की चिन्ता रूपी समुद्र में डूबा हुआ राजा विचार कर ने लगा - फिर राजा, अन्य लोग उसको बार-बार देखकर अत्यन्त भ्रम में पड़ गये, जैसे शुद्ध सुवर्ण की पहचान करने में अनभिज्ञ (अनाड़ी) बेशकीमती सोने को छोड़कर चले जाते है, उसी तरह वे लोग भी अपने-अपने स्थान को जाने के लिए उतारू हो गये और आगे नहीं जा सके । इसी अवसर में मन्त्री ने शीघ्र आकर राजा और उनके लोगों को हाथ पकड़-पकड़कर उचित स्थान में आसन देकर बैठाया । फिर मन्त्री ने कामघट के प्रभाव से ऐसी दिव्य पक्की रसोई परोसी कि जिसको राजा आदिक सभी लोग बिना श्रम के सुखपूर्वक खाने लगे और प्रशंसा करने लगे ।

तद्यथा- जैसे -

शुभ्रं गोधूमचूर्णं घृतगुड-सहितं नालिकेरस्य खण्डं,
द्राक्षाखर्जूरसुण्ठीतजमरिचयुतं चैलचीनागपुष्पम् ।
पक्त्वा ताम्रे कटाहे तलयितलतटे पावके मन्दहीने,
धन्या हेमन्तकाले प्रियजनसहिता भुञ्जते लापसीं ये।।८२।।

स्वच्छ गेहूं के चूर्ण में घी और गुड़ मिलाकर नारियल (गरी) के छोटे-छोटे टुकड़े मिलाकर, फिर उसमें दाख, छहोडा, सोंठ, तज, कालीमिर्च, इलाइची और नाग केसर डालकर तांबे की कड़ाह में धीमी -धीमी आंच से पकावे और बीच में नीचे-ऊपर करता हुआ कड़छी से खूब हिलाते रहने से अच्छी लापसी तैयार होती हैं, ऐसी लापसी को हेमन्त ऋतु में अपने प्रिय परिवारों के साथ भाग्यवान लोग ही खाते हैं ।।८२।।

हिङ्ग्वाजीरैर्मरीचैर्लवणपुटतरैरार्द्रकाद्यैः सुपक्वान्,
स्निग्धान्पक्वान् मनोज्ञान्परिमलबहुलान्पेशलान्कुङ्कुमाभान् ।
क्षिप्त्वा दन्तान्तराले मुरमुरवदतः स्पष्टसुस्वादयुक्तान्,
धन्या हेमन्तकाले मुखगतबटकान्भुञ्जते प्रीतिदत्तान् ॥८३॥

हींग, जीरा, काली मिर्च, सेंधा नमक और सूंठ से मिले हुए तेल या घी में अच्छी तरह पके हुए सुन्दर सुगन्ध (केसर-कस्तुरी) युक्त कुंकुम की रंग की तरह अच्छे जायकेदार और दांत के तले दबाने पर जिन में 'मुर-मुर' आवाज हो ऐसे प्रेम से दिये गये बड़े (बाड़ा-सेवई आदि) का हेमन्त ऋतु में भाग्यवान् ही भोजन करते हैं।।८३।।

गोधूमचूर्णं लवणेन मिश्रितं, जलेन पिण्डीकृतहस्तमर्दितम् ।
तद्गोलिका गोमयवह्निपक्वाः, क्षुधाहराः पुष्टिकरा घृतेन ॥८४॥

गेहूं के चूर्ण में सेंधा नमक मिलाकर और जल देकर खूब गूंधे (साने) फिर अन्दाज से गोले बनाकर गोइठा (गाय के छान) की आग में पकाने से बाटी तैयार होती है उसमें खूब घी डालकर खाने से जल्दी भूख नहीं लगती और वह पुष्ट करनेवाली होती है ।।८४।।

इति राजादिसर्वजनमुखादेवं प्रशंसां निशम्य मन्त्रिणा राज्ञेऽभिहितम्-

राजा आदि सभी के मुख से इस तरह की प्रशंसा सुनकर मन्त्री ने राजा को कहा -

पिब भूप! सुदुग्धमहो! मुदितः, कफमारुतपित्तविकारहरम्।
मदनोदययोषिति कामकरं, सुरभिद्रवमिश्रिततापहरम्॥८५॥

हे राजन् ! प्रेम से इस अच्छे दूध को पीजिए, यह दूध कफ,

पित्त, वायु (त्रिदोष) के विकार को हरण करने वाला है, कंदर्प को उत्पन्न करने वाला और स्त्रियों में इच्छा बढ़ाने वाला, तथा सुगन्धित द्रव्यों से युक्त होने के कारण ताप नाशक है ।।८५।। (व्यवहारी कथन)

दधि भक्षय भूप! सुखण्डयुतं, घनसारयिमिश्रितगन्धयुतम् ।
शुचिकामकरं बलपुष्टिकरं, शुभसैन्धयजीरकमाशुगहम्।।८६।।

हे राजन् ! अच्छी मिसरी और कर्पूर से युक्त जायकेदार, खुशबूदार और लज्जतदार इस दही को चखिए, यह शुद्ध वीर्य को बढ़ानेवाला, बल-पुष्टिकारक है तथा सेंधा नमक और जीरा मिलाने से यह वायु विकार को दूर भगाता है ।।८६।।

घृतमद्धि जनेश्वर! पुष्टिकरं, मदनोदयमिन्द्रियतृप्तिकरं ।
बहुकान्तिकरं हृततापभरं, मधुरेशसुधारसदूरकरं ।।८७।।

हे जनवल्लभ (राजन्) ! वीर्यवर्धक, इन्द्रिय को तृप्त करने-वाला, बल पुष्टिकारक इस घी को खाइए । यह अत्यधिक कान्ति को बढ़ाने वाला, शरीर के संताप को हरण करनेवाला और अमृत के रस को भी मात करने वाला है ।।८७।।

शशिकान्तिसमुज्ज्वलशङ्खनिभं, परिपक्वसुगन्धकपित्थसमम्।
युवतीमृदुपाणियिनिर्मथितं, पिब तक्रमिदं तनुरोगहरम्।।८८।।

हे राजन् ! चन्द्रमा और शंख के समान अत्यन्त उज्ज्वल पके हुए सुगंध वाले कपित्थ के समान और युवतियों के कोमल पाणि-पल्लव से मथा हुआ शरीर के रोगों को हरने वाले इस तक्र (घोल-छाछ) को पीजिए ।।८८।।

हिमशीतलनिर्मलकुम्भभृतं, घनसारसुवासितवातयुतम् ।
युवतीकरहेमकचोलभृतं, रिपुपक्षहरं पिब भूप! जलम्॥८९॥

हे राजन्! बर्फ के जैसा ठंडा और निर्मल जल से भरे हुए कपूर और खश की खुशबू से युक्त घड़े में से युवती के हाथ से सोने की कटोरी में भर कर लाये हुए इस जल को पीजिए, यह जल आप के दुश्मन के दल को जीतने वाला है ॥८९॥

इत्यादि मन्त्रिप्रेमवाक्यं शृण्वन् रसवतीं भुञ्जानः सन् राजा पार्श्वस्थान् पुरुषान् पृच्छति- भो जनाः ! एवंविधा रसवती क्वापि युष्माभिरास्वादिता पक्वान्नानि वा दृष्टानि श्रुतानि वा ? सर्वे जनास्तदैवमाहुर्न क्वापि । एवमतिभक्त्या राजादयस्सर्वे जनास्तेन भोजिताः । तदनु च तेषु केसरचन्दनच्छटा निक्षिप्ताः, ताम्बूलानि च सर्वेभ्यो दत्तानि । दिव्यवस्त्राभरणादीनि च परिधापितानि । तदनु विस्मितेन राज्ञा मन्त्री पृष्टः- भो मन्त्रिन् ! एतावन्तो जनास्त्वया कस्य प्रसादेन भोजिताः ? मन्त्रिणोक्तम्- महाप्रभावशालिनो देवाधिष्ठितस्य कामघटस्य प्रसादेन । तदा राज्ञोक्तं तं कामघटं ममार्पय, यतः शत्रुसैन्यादिकृतपराभवावसरे स सर्वदा मम महोपयोगी भविष्यति । ततोऽमात्येनोक्तम्- अधर्मवतस्तव गृहे स सर्वथा न स्थास्यति । नृपेणोक्तं सकृत्त्वं मेऽर्पय पश्चादहमतिप्रयत्नेन स्थापयिष्यामि, पुनरहं तवोपकारं ज्ञास्यामि। सचिवेनोक्तम्-अतःपरं किमहं ब्रवीमि भवदमात्योऽस्मीति ददामि, परं दिनत्रयं तु भवद्भिः सावधानतयावश्यमस्य रक्षा विधेयेति मया स्पष्टं ज्ञापितोऽसि । नातः परं मे कोऽपि दोष इत्युक्त्वा मन्त्रिणा स कामघटस्तस्मै समर्पितः । नृपेणाप्यतिप्रयत्नेन

स्वालयभाण्डागारे स्थापितः, परितश्च तद्रक्षार्थं सारभूता निजसहस्र सुभटाः खड्गखेटकधरा सेना च स्थापिता ।

इत्यादि मन्त्री की प्रेमभरी बात को सुनता हुआ और रसोई जीमते हुए राजा ने अपने पास में रहे हुए लोगों से पूछा कि – हे लोगो ! आप लोगों ने ऐसी रसोई कहीं खाई या ऐसी मिठाई कहीं देखी या सुनी ? तब उस समय सभी ने कहा कि कहीं नहीं । इस तरह भक्तिपूर्वक मन्त्री ने राजा आदि सब को भोजन कराया । और उसके बाद उन लोगों को केसर–चन्दन आदि के छांटे देकर पान के बीड़े सभी को दिये और सुन्दर वस्त्र–अलङ्कार आदि पहना दिये । उसके बाद विस्मित होकर राजा ने मन्त्री से पूछा – हे मन्त्री ! इतने लोगों को तुमने किसकी कृपा से भोजन कराया । मन्त्री ने कहा – महा–प्रभावशाली देवता से अधिष्ठित कामघट के प्रभाव से । तब राजा ने कहा – वह कामघट मुझे दे दो, क्योंकि, शत्रु की सेना से परास्त होने के समय में वह कामघट मेरे अधिक उपयोगी होगा । तब मन्त्री ने कहा – आप अधर्मी हैं, इसलिए आप के पास वह कामघट नहीं रह सकता । राजा ने कहा – एकबार तो तुम मुझे दो पीछे मैं खूब संभालकर उसे रखूंगा और मैं तुम्हारा उपकार मानूंगा । मन्त्री ने कहा– अब इसके आगे मैं आपको क्या कहूँ ? क्योंकि, मैं आपका मन्त्री हूँ, इसलिए देता हूँ, लेकिन तीन दिन तक आप इसकी अच्छी निगरानी के साथ रक्षा करना यह मैं आपको साफ कहे देता हूँ, इसके आगे अब मेरा कोई दोष नहीं, यह कहकर मन्त्री ने वह कामघट राजा को दे दिया । राजा ने भी अत्यन्त होसियारी से अपने महल के भांडागार में उसे रखा और चारों ओर उसकी रक्षा के लिए हजारों अच्छे लड़ाकू योद्धाओं को और तलवार–ढाल वाली सेना भी तैनात कर दी ।

यतः–   क्योंकि –

सामी सूराचार करि, परिहर कायर सट्ठि ।
जे संपत्ति पारखडे, ते चारे चउसट्ठि ॥९०॥

राजा लोग शूरवीर को ही अपना चार (चाकर-अंगरक्षक) बनाते हैं और कायर (डर पोक) शस्त्रधारी को छोड़ देते हैं, वास्तव में जो संपत्ति के पारखी-संरक्षक हों वे ही चतुर शस्त्रधारी कला-कुशल राजा के चार के योग्य हैं ।।९०।। और उनको कहा -

अतो युष्माभिर्मे बान्धवरूपैः सेवकैरिदं कार्यं सावधानतया विधेयम् ।

इसलिए तुम लोग मेरे बान्धव रूप सेवक हो, यह कार्य सावधानी से करना चाहिए ।

उक्तं च-

और कहा भी है -

आतुरे व्यसने प्राप्ते, दुर्भिक्षे शत्रुनिग्रहे ।
राजद्वारे स्मशाने च, यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥९१॥

संकट काल उपस्थित होने पर, दुष्काल में, शत्रु का दबाव होने पर, राज दरबार में और स्मशान में जो (मदद करने के लिए) खड़ा रहता है, वही (वास्तव में) बान्धव (भाई-बन्धु) है ।।९१।।

अपि च-

और भी -

जानीयात्प्रेषणे भृत्यान्, बान्धवान् व्यसनागमे ।
मित्रमापदि काले च, भार्यां च विभवक्षये ॥९२॥

किसी कार्य के लिए कहीं भेजने में नौकरों को, कष्ट (दैहिक,

आर्थिक) में बांधवों को, आपत्ति में मित्रों को और धन के न रहने पर स्त्री को (अच्छा-बुरा) जानना चाहिए ।।९२।।

एवं राज्ञा भृत्याः शिक्षिताः । अथ द्वितीयदिवसे तस्मिन् पुरेऽपि धर्ममाहात्म्यदर्शनार्थं मन्त्रिणा दण्डं प्रत्युक्तम्- भो दण्ड! कामघटं मे समानयेति, तदैव स दण्डस्तत्र गत्वा सर्वान् हयगज-सुभटान् कुट्टयित्वा रुधिरवमनांश्च विधाय मूर्च्छाभिभूतान् कृत्वा राज्ञः पश्यत एव तं कामघटं गृहीत्वा मन्त्रिगृहे समागतः । राजा तं घटं गतं दृष्ट्वा विषण्णचेता मन्त्रिगृहे गत्वोवाच- भो मन्त्रिन्! पापिनो गृहे सद्वस्तु न तिष्ठतीति तवोक्तं सर्वं सत्यं जातम् । अतः साम्प्रतं ममालयेऽयमनर्थः समुत्पन्नः, ततस्त्वं प्रसादं कृत्वा मत्सैन्यं सज्जीकुरु । एवं राज्ञो बह्वाग्रहेण मन्त्री तत्र गत्वा तेषां सुभटानामुपरि प्रभावान्वितं चामरयुगलं वीजयित्वा सर्वानपि सज्जीकृतवान् । ततो मन्त्रिणोक्तं भो राजन् ! मद्धर्मप्रभावोऽयं दृष्टः ? राज्ञोक्तं दृष्टः । ततो राज्ञापि मन्त्रिप्रसङ्गाद् धर्मोऽङ्गीकृतः प्रोक्तं च सर्वमपि भव्यं धर्मादेव भवति ।

इस तरह सेवकों को राजा ने समझा दिया । अब दूसरे दिन उस नगर में मन्त्री ने धर्म के माहात्म्य को दिखलाने के लिए दण्ड को कहा - हे दण्ड ! मेरा कामघट तूं ला दे, उसी समय दण्ड ने वहाँ जाकर राजा के हाथी घोड़े और सुभटों को इतनी मार मारी कि उन सभी के मुंह से खून की उलटी होने लगी और सब मूर्च्छित (बेहोश) हो गये ऐसा करके राजा को देखते ही उस कामघट को लेकर मन्त्री के घर पर चला आया । राजा उस घड़े को गायब होते देखकर अत्यन्त दुःखी चित्त होकर मन्त्री के घर पर जाकर बोला - हे मन्त्री ! पापी के घर में अच्छी वस्तु नहीं टिकती है,

यह तुम्हारा कहा हुआ सब सत्य निकला । इसी से अभी मेरे घर में यह अनर्थ हुआ है, इसलिए तुम कृपा करके (प्रसन्न होकर) मेरी सेना को अच्छी कर दो, इस तरह राजा के अधिक आग्रह से मन्त्री ने वहाँ जाकर उन मूर्छित सुभटों के ऊपर प्रभावों से युक्त दोनों चामरों को डुलाकर सब को अच्छा कर दिया । तब मन्त्री ने कहा - हे राजन् ! आपने मेरे धर्म का प्रभाव देखा । राजा ने कहा - हाँ ! देख लिया । उसके बाद राजा ने भी मन्त्री के प्रसंग से धर्म को स्वीकार किया और बोला कि सभी अच्छाई धर्म से ही होती है ।

यतः- क्योंकि -

धर्मादेय कुले जन्म, धर्माच्च विपुलं यशः ।
धर्माद्धनं सुखं रूपं, धर्मः स्वर्गापवर्गदः ॥९३॥

अच्छे कुल में जन्म, फैलने वाली कीर्ति, धन-दौलत, सुख-चैन, रूप-सौंदर्य ये सब धर्म से ही होते हैं और धर्म स्वर्ग तथा मोक्ष को देता है ।।९३।।

रम्यं रूपं करणपटुताऽऽरोग्यमायुर्विशालं,
कान्तारूपाभिमतरतयः सूनवो भक्तिमन्तः ।
षट्खण्डोर्वीतलपरिवृढत्वं यशः क्षीरशुभ्रं,
सौभाग्यश्रीरिति फलमहो! धर्मवृक्षस्य सर्वम् ॥९४॥

सुन्दर रूप, इन्द्रियों की कार्यक्षमता, नीरोगता, विशाल आयु, अच्छी तरह प्रेम करने वाली सुन्दर स्त्री, आज्ञाकारी पुत्र, छः खण्ड पृथ्वी का आधिपत्य, दूध के जैसा उज्ज्वल यश और सौभाग्य की शोभा यह सब धर्म-वृक्ष का फल है ।।९४।।

कुलं विश्वश्लाघ्यं वपुरपगदं जातिरमला,
सुवित्तं सौभाग्यं ललितललना भोग्यकमला ।
चिरायुस्तारुण्यं बलमविकलं स्थानमतुलं,
यदन्यच्च श्रेयो भवति भविनां धर्मत इदम् ॥९५॥

संसार में मान्य कुल (में जन्म), नीरोग शरीर, निर्दोष जाति, अच्छे धन-दौलत और भाग्य, सुन्दर स्त्री और लक्ष्मी का भोग, दीर्घ आयु, तरुणाई (जवानी), अटूट बल और अच्छे स्थान तथा अन्य दूसरे जो पुण्यात्माओं के अच्छे होते हैं, वे सब के सब धर्म से ही होते हैं ।।९५।।

अहो! सर्वतोऽधिको धर्मस्य प्रभावो न त्वन्यस्येति सर्वैर्नगर-लोकैरपि धर्मोऽङ्गीकृतो मानितश्च ।

अरे ! सब से अधिक धर्म का ही प्रभाव है दूसरे का नहीं, इस तरह नगर के सभी लोगों ने भी धर्म को स्वीकार किया और संमान भी किया ।

यतः- क्योंकि -

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः, पापे पापाः समे समाः ।
राजानमनुवर्तन्ते, यथा राजा तथा प्रजाः ॥९६॥

राजा के धर्मात्मा होने से धर्मात्मा, पापी होने से पापी और समान होने से समान लोग (प्रजा) हो जाते हैं, अर्थात् राजा के पीछे-पीछे प्रजा चलती है, कहावत है कि जैसा राजा वैसी प्रजा ।।९६।।

अथ कियद्दिनानि यावत्तेन राज्ञा तथाविधधर्मप्रभावो मानितः। तदनु पुनरपि चलचित्तेन राज्ञैकदा मन्त्रिणं प्रति प्रोक्तम्- हे

मन्त्रिन् ! घुणाक्षरन्यायेन सकृत्तव भाग्यं फलितं परं नायं धर्मप्रभावः । इदं सर्वमपि पापफलमेव, यदि त्वं धर्मप्रभावं सत्यमेव मन्यसे, तर्हि पुनरपि द्वितीयवारं मम धर्मफलं दर्शय । परं कामघटं चामरयुगलं दण्डं चाऽत्रैव मुक्त्वा, निःशम्बलः सभार्यस्त्वं देशान्तरे गत्वा, धनमर्जयित्वा, पुनरपि यदि त्वमत्रागमिष्यसि तदाहं तव सत्यधर्मप्रभावं मंस्ये नाऽन्यथा । एवंविधानि राज्ञो वचनान्याकर्ण्य मन्त्री चिन्तयति स्म–पूर्वमेष राजा महानधर्म्यभूत्पुनरपि तथैव जातः, प्रथमं तु महापरिश्रमेण परीक्षां विधाय धर्मोऽङ्गीकृतः । अथ पुनस्तदवस्थयैव स्थितो हन्त ! यस्य यथा शुभोऽशुभो वा स्वभावोऽस्ति स तेन कदापि नो मुच्यते ।

उसके बाद कुछ दिनों तक उस राजा ने धर्म के प्रभाव को माना, पश्चात् फिर चलचित्त होने क कारण राजा ने एक समय मन्त्री को कहा– हे मन्त्री ! घुणाक्षर न्याय से एकबार तुम्हारा भाग्य फला किन्तु यह धर्म का प्रभाव नहीं है । यह सब भी पाप का ही फल है । यदि तुम धर्म के प्रभाव को सत्य ही मानते हो तो एकबार फिर भी धर्म का फल मुझे दिखाओ । लेकिन कामघट को, दोनों चामरों को और दण्ड को यहीं छोड़कर बिना संबल (रास्ते का खर्चा) के अपनी स्त्री के साथ तुम दूसरे देश में जाकर, धन कमाकर यदि फिर भी यहाँ आओगे तब मैं तुम्हारा सच्चा धर्म का प्रभाव मानूंगा, अन्यथा नहीं । इस तरह राजा की बातें सुनकर मंत्री विचार करने लगा– पहले यह राजा महा अधर्मी था पुनः वैसा का वैसा हो गया । पहले तो बहुत परिश्रम से परीक्षा करके इसे किसी तरह धर्म स्वीकार कराया था । अब, फिर उसी तरह हो गया । खेद है कि– जिस के जैसे अच्छे या बूरे आदत (स्वभाव) हो जाते हैं, वह उस स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता– आदत से लाचार हो जाता है ।

यतः- क्योंकि -

रक्तत्वं कमलानां, सत्पुरुषाणां परोपकारित्वम् ।
असतां च निर्दयत्वं, स्वभावसिद्धं त्रिषु त्रितयम् ।।९७।।

कमलों में लालाई, सत्पुरुषों में दूसरे की भलाई और असज्जनों (दुष्टों) में निर्दयपना ये तीनों तीनों में स्वभाव सिद्ध (स्वतः सिद्ध-अपने आप मौजूद) हैं ।।९७।।

अपि च-
और भी -

काकस्य गात्रं यदि काञ्चनं स्यात्,
माणिक्यरत्नं यदि चञ्चुदेशे ।
एकैकदेशो ग्रथितो मणीभि-
स्तथापि काको न तु राजहंसः ।।९८।।

कौए का देह यदि सोने का हो और उसके चोंच में माणिक-रत्न हो, तथा प्रत्येक अंग मणियों से गूंथा हूआ हो, फिर भी कौआ राजहंस कभी नहीं हो सकता ।।९८।।

अरे ! एष दीनोऽधर्मी धर्मगुणं कथं वेत्ति ? धर्मगुणं तु धर्मी विद्वानेव जानाति ।

अरे ! यह दीन और पापी राजा धर्म के गुणों को किस तरह जाने? क्योंकि धर्म के गुण तो विद्वान् पुण्यात्मा ही जानते हैं ।

यतः- क्योंकि -

प्रतिपच्चन्द्रं सुरभि-र्नकुलो नकुलीं पयश्च कलहंसः ।
चित्रकयल्लीं पक्षी, शुद्धं धर्मं सुधीर्वेत्ति ।।९९।।

पड़वा (एकम) के चन्द्रमा को सुरभि (पृथिवी), नकुली को नकुल, और दूध को राजहंस, चित्रक वल्ली को पक्षी और शुद्ध धर्म को बुद्धिमान् ही जानते हैं ।।९९।।

एवं मन्त्रिणा विचारितं, तथापि साहसिकेन परोपकार-तत्परेण मन्त्रिणा तद्राज्ञोक्तं द्विवारमपि मानितम् । कुतो जगति विना प्रयोजनं यत्परोपकारकरणमिदमेव सर्वोत्तमत्वम् ।

इस तरह मन्त्री ने विचार तो किया, फिर भी साहसी और परोपकारी होने से राजा का दूसरी बार कहा हुआ भी मान लिया । क्योंकि- बिना प्रयोजन के कोई भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती और प्रवृत्तियों में जो प्रवृत्ति परोपकार के रूप में होती है वह सर्व श्रेष्ठ प्रवृत्ति कही जाती है ।

उक्तं च-

कहा भी है -

अकृतज्ञा असङ्ख्याताः, सङ्ख्याताः कृतवेदिनः ।
कृतोपकारिणः स्तोकाः, द्वित्राः स्वेनोपकारिणः ।।१००।।

किये हुए उपकार को नहीं जानने वाले बहुत हैं, और किये हुए (उपकार) को जानने वाले गिनती वाले (कम) हैं । उपकार करने वाले बहुत कम हैं, और अपने आप उपकार करनेवाले वो तो दो तीन ही हैं ।।१००।।

यरं करीरो मरुमार्गवर्त्ती, यः पान्थसार्थं कुरुते कृतार्थम् ।
कल्पद्रुमैः किं कनकाचलस्थैः, परोपकारप्रतिलम्भदुःस्थैः ।।१।।

मारवाड़ के रेतीले मार्ग में रहा हुआ वह करीर (केरड़ी) का

झाड़ अच्छा है जो पथिकों को साधारण (छाया) रूप में भी कृतार्थ करता है, लेकिन सुमेरु पर्वत पर रहे हुए उन कल्पवृक्षों से क्या ? जो परोपकार करने के डर से दूर जाकर ठहरे हुए हैं ।।१।।

छायामन्यस्य कुर्वन्ति, स्वयं तिष्ठन्ति चातपे ।
फलन्ति च परस्यार्थे, नात्महेतोर्महाद्रुमाः ॥२॥

बड़े वृक्षों की छाया दूसरे के लिए होती है और स्वयं प्रचण्ड गरमी में रहते हैं, और वे बड़े झाड़ दूसरों के लिए ही फलते हैं, अपने लिये नहीं - कभी नहीं ।।२।।

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः,
खादन्ति न स्वादुफलानि वृक्षाः ।
पयोमुचः किं विलसन्ति शस्यं,
परोपकाराय सतां विभूतयः ॥३॥

नदियां स्वयं पानी नहीं पीतीं, पेड़ स्वयं फल नहीं खाते, मेघ स्वयं धान नहीं खाते, वास्तव में सज्जनों (बड़ों) की संपत्तियां परोपकार (दूसरों की भलाई) के लिए ही होती हैं ।।३।।

अपि च-

और भी -

क्षुद्राः सन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापारबद्धादराः,
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ।
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति श्रोतःपतिं वाडवो,
जीमूतस्तु निदाघसंभूतजगत्सन्तापविच्छित्तये ॥४॥

अपने पेट को भरने के लिए हजारों क्षुद्र (नीच-दरिद्र) हैं,

किन्तु परमार्थ (परोपकार) ही जिनका स्वार्थ है ऐसे सज्जनों का आगेवान कोई एक (कम) ही है । देखिए वाड़वाग्नि अपने दुःख से भरने योग्य उदरपूर्त्ति के लिए समुद्र को पीता है, मगर मेघ गर्मी से परिपूर्ण संसार के संताप की निवृत्ति के लिए ही (समुद्र का जल लेता है) है ।।४।।

तदनु स मन्त्री राज्ञे निजगृहं समर्प्य विनयसुन्दरी-भार्यायुक्तो देशान्तरं चचाल, गच्छन् कियद्दिवसैः समुद्रतटे गम्भीरपुरनाम नगरं प्राप । तन्नगरासन्नवाटिकायां च देवकुल-मासीदिति जिनेश्वरदेवनत्यर्थं श्रीवीतरागप्रासादे गतः । तदवसरे तत्रस्थजनमुखात्तेन श्रुतं यत्सागरदत्तनामा व्यवहारी पूरितयानपात्रो द्वीपान्तरं प्रति गच्छन् लोकेभ्यो बहुलं दानं ददाति । तन्निशम्य स मन्त्र्यपि निजसुन्दरीं तत्रैव मुक्त्वा दानग्रहणार्थी समुद्रतटं गतवान् । तत्र तेन दानार्थिजनानां बहुसमुदायो मिलितो दृष्टः ।

उसके बाद वह मन्त्री राजा को अपना घर समर्पण कर विनय-सुन्दरी नाम की अपनी स्त्री से युक्त होकर दूसरे देश को चला । जाते हुए कुछ दिनों में समुद्र के किनारे गंभीरपुर नाम का नगर मिला । उस नगर के समीप बगीचे में एक देव-मन्दिर था, यह जानकर जिनेश्वर देव की वन्दना के लिए भगवान् वीतराग के मन्दिर में गया । उस समय उसने वहाँ रहे हुए लोगों के मुंह से सुना कि सागरदत्त नाम का व्यापारी जहाज भरकर दूसरे द्वीप में जाता हुआ लोगों को बहुत दान देता है । यह सुनकर वह मन्त्री भी अपनी स्त्री को वहीं छोड़कर दान लेने की इच्छा वाला समुद्र के किनारे गया । वहाँ उसने याचक लोगों की जमघट देखी ।

यतः- क्योंकि -

वयोवृद्धास्तपोवृद्धाः, ये च वृद्धा बहुश्रुताः ।
सर्वे ते धनवृद्धानां, द्वारे तिष्ठन्ति किङ्कराः ॥५॥

जो वय में वृद्ध हैं, तपस्या में वृद्ध हैं और शास्त्रज्ञ में वृद्ध हैं वे सब धन में वृद्ध (महाधनी) लोगों के द्वार पर किंकर होकर रहते हैं।।५।।

अपि च-

और भी -

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः, सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ॥६॥

जिसके पास धन है, वही आदमी कुलीन (खानदानी) है । वही (धनवाला) पण्डित है, वही शास्त्रवेत्ता है, वही गुणी है, वही वक्ता है और वही दर्शन करने योग्य है, क्योंकि सारे गुण काञ्चन (धन-दौलत) का ही सहारा लेते हैं ।।६।। (ऐसा कुछ लोगों का कथन है ।)

इतो मन्त्रिणा सर्वलोकेभ्यो द्रव्यदानानन्तरं वाहने समारूढः सागरदत्तो व्यवहारी दृष्टः । तेन सोऽपि दानाय जलमध्ये कियद् दूरं गत्वा वाहने समारुह्य तस्य श्रेष्ठिनः पार्श्वे दानं याचितवान्। व्यवहारिणापि तद्धर्मप्रभावेण तस्मै यथेष्टं दानं दत्तं, मन्त्रिणापि शीघ्रमेव गृहीतम् ।

इधर मन्त्री ने सब लोगों को द्रव्य दान देने के बाद जहाज पर चढ़ा हुआ सागरदत्त नाम के व्यापारी को देखा । इससे वह मन्त्री दान के लिए जल के बीच में कुछ दूर जाकर जहाज पर चढ़कर उस सेठ के पास दान मांगा । उस व्यापारी सेठ ने भी उसके धर्म के प्रभाव से उसकी इच्छा

पूर्ति हो उतना दान दिया, मन्त्री ने भी शीघ्र ले लिया।

यतः- क्योंकि -

दाणं मग्गणदव्वं, भांडं लंचा सुभासियं वयणं ।
जं सहसा न य गहियं, तं पच्छा दुल्लहं होइ ॥७॥

(संस्कृत छाया)-

दानं मार्गण-द्रव्यं भाण्डं लाञ्चा सुभाषितं वचनम् ।
यत् सहसा न गृहीतं तत् पश्चाद् दुर्लभं भवति ॥

दान, मांगा हुआ द्रव्य, बर्त्तन, घूश (लांच), सुभाषित वचन जो जल्दी ग्रहण न किया जाय तो वह पीछे दुर्लभ हो जाता है ।।७।।

एवं दानं गृहीत्वा मन्त्री यावत्पश्चादागन्तुमिच्छति तावत्सु-वायुना प्रेरितः पोतोऽह्नाय समुद्रमध्ये दूरं गतः । तेन पश्चात्तटे समागन्तुं समर्थो नो बभूव, प्रवहणमध्ये एव स्थितः । अथ सागरदत्तेन व्यवहारिणा मिथः कथाप्रसङ्गेन स मन्त्री सकल-कलाकलापकुशलो ज्ञातः । ततस्तेन श्रेष्ठिना मन्त्री पृष्टस्त्वं लेखलिखनादिकं किमपि वेत्सि ? तेनोक्तं सम्यग् वेद्मि । हे श्रेष्ठिन् ! द्वासप्ततिकलाकुशलत्वं त्वास्तां परं धर्मकलाज्ञानं विना भगवन्नामस्मरणं विना च सर्वमपि निरर्थकमेव ।

इस तरह दान लेकर जब तक मन्त्री पीछे आना चाहता है तब तक वायु की झोंक से जहाज जल्द ही समुद्र के बीच में दूर चला गया। इसलिए वह पीछे लौटने में असमर्थ रहा, जहाज में ही बैठा रहा। अब सागरदत्त व्यापारी ने परस्पर बातचीत से उस मन्त्री को सारी कलाओं में प्रवीण समझा। तब उस सेठ ने मन्त्री को पूछा कि - तुम लेख लिखना

आदि कुछ जानते हो ? मन्त्री ने कहा - अच्छी तरह जानता हूँ। हे सेठ ! बहत्तरकला की कुशलता की बात तो छोड़ो, परन्तु (मैं तो यह मानता हूँ कि) धर्म कला के ज्ञान के बिना और भगवान के नाम स्मरण बिना सभी व्यर्थ हैं।

यतः- क्योंकि -

बायत्तरिकलाकुसला, पंडियपुरिसा अपंडिया चेव ।
सव्वकलाणं पवरा, जे धम्मकलं न जाणंति ॥८॥

(संस्कृत छाया)-

द्वासप्तति-कला कुशलाः पण्डित-पुरुषा अपण्डिताश्चैव ।
सर्व-कलानां प्रवराः, ये धर्मकलां न जानन्ति ॥८॥

बहत्तर कलाओं में चतुर, सब कलाओं में प्रवीण पण्डित पुरुष भी यदि धर्मकला को नहीं जानते हैं तो वे अपण्डित (मूर्ख) ही हैं।।८।।

अपि च-

और भी -

सीखेहो अलेख लेख कविता गीतनाद-
छन्द ज्योतिषके सीखे रहते मगरूरमें,
सीखेहो सौदागिरी सराफी वजाजी लाख,
रुपियनके फेरफार वहेजात पूर में ।
सीखेहो जंत्र मंत्र तंत्र बातां भातां बहु ज,
जगत कहत जाको हाजर हजूर में ।
कहे मुणि "राजेंद्रसूरि" जिननाम बोलयो,

नही सीख्यो ताको सब सीख्यो गयो धूर में ॥९॥

एवं धर्मसंबन्धीनि वचनान्याकर्ण्य सहर्षेण व्यवहारिणोक्तम्- तर्हि त्वं मम व्यापारसंबन्धि लेखादिकर्म कुरु, तेनापि तदङ्गीकृतं, ततो व्यवहारिणापि स लेखादिकार्ये स्थापितः । एवं स तत्र सुखेन कालं गमयति स्म ।

इस तरह धर्म की बातें सुनकर खुश होकर व्यापारी ने कहा - तो तुम मेरा व्यापार संबन्धी लिखने आदि का काम करो । मन्त्री ने भी मंजूर कर लिया । फिर सेठ ने भी मन्त्री को लिखने आदि के कार्य में नियुक्त कर दिया, इस तरह वह मन्त्री सुख से समय बिताने लगा ।

अथ मन्त्रिणा देवकुले मुक्ता या स्वपत्नी विनयसुन्दरी सा निजभर्तृप्रवासगमनकालादारभ्य तत्रैवासीना तदागमनमार्गं प्रपश्यन्त्येवं विचारयति स्म- अहो ! केन हेतुना मे स्वामी मामेकाकिनीं मुक्त्वाऽधुनावधि नो समायातः । लोके ये खगा अपि वने स्वजीविकार्थमगच्छन्, तेऽपि कृत्वोदरपूर्त्तिं स्वेनैव मनसा स्वस्वस्थाने प्रत्यायान्ति, पुनर्मे पतिस्तु दानार्थं गतोऽधुनापि न समायातः । अतो रे हृदय ! यदि त्वं स्वामिनि संपूर्णतया निजप्रेम रक्षसि तर्हि तद्विरहे कथं विनाशं नाधिगच्छसि ? । पतिसमीपावस्थानमेव पतिव्रतानां पतिव्रतात्वं, अन्यथा तासां विनाश एव नैव लोके कुत्रापि शोभा च ।

अब मन्त्री ने जो अपनी स्त्री विनयसुन्दरी देवकुल में छोड़ रखी थी वह (विनयसुन्दरी) अपने पति (मन्त्री) के दान लेने जाने के समय से लेकर तब तक वहीं बैठी हुई उसके आने की बाट को जोहती हुई इस तरह विचार ने लगी । हाय ! किस कारण, मेरे पति मुझे अकेली छोड़कर

अभीतक नहीं आये । संसार में जो पक्षी भी अपनी जीविका के लिए वन में जाते हैं, वे भी अपना पेट भरकर अपने ही मन से अपने-अपने स्थान पर आ जाते हैं, फिर पति तो दान के लिए गये वे अभी तक भी नहीं आये। इसलिए रे मन ! यदि तुम अपने पति में पूरी तरह अपना प्रेम रखते हो तो उनके वियोग में क्यों नहीं विनाश को प्राप्त हो जाते ? क्योंकि पतिव्रताओं का पतिव्रत धर्म पति के पास रहने में ही है, अन्यथा विनाश ही है और लोक में कहीं भी शोभा नहीं है ।

यतः- क्योंकि -

राजा कुलवधूर्विप्रा, नियोगी मन्त्रिणस्तथा ।
स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते, दन्ताः केशा नखा नराः ॥१०॥

राजा, अच्छे कुल की स्त्री, ब्राह्मण, नियोग करने वाला और मन्त्री तथा दांत, केश, नाखून और आदमी अपने स्थान से हटाये गये शोभा नहीं पाते हैं ।।१०।।

पुनश्चित्त ! तद्विरहे स्वस्थेन त्वया कथमहं लज्जावती क्रिये ? । एतेन तु व्याघ्री समागत्य यदि मां भक्षयेत्तदा वरं, एतदेवानुपमेयमौषधं मद्दुःखहरणाय भवतु। एवं विविधरीत्या पौनः-पुन्येन स्वकर्मणो दोषान्निष्कास्य तदैकाकिन्येव सा वराकी निजाज्ञानवशेन पूर्वदुष्कृतकर्माणि निनिन्द । पुनर्विलापपूर्वकं रोरूयते स्म-हन्त ! पूर्वस्मिन् भवे मया महान्ति कोटिशः कल्मषाण्युपार्जितानि येन मद्वल्लभो मामेवं पथ्येव विहाय गतः । अथाहं निर्नाथा क्व गच्छानि ? अस्मिन् क्षणे परमस्नेहवन्तो गोवत्सा अपि स्तन्यपानं विधातुं स्वमातरं प्राप्ताः । प्रतिगृहं प्रज्वलच्छिखा दीपमालिकाश्च प्रज्वलिताः । रात्रिंचराश्चोन्मत्ताः सन्तो नर्त्तितुं

लग्नाः । विरहिजनविरहार्त्ति-वर्द्धनश्चन्द्रोऽप्युदियाय । पुनस्तेन विरहिण्योऽतीव दुःखिताः समजायन्त । अथाहमनाथा किं कुर्यां चक्रवाकीव गाढतरदुःखधारिण्यहमभूवम् । एवमनेकधा विलप्य सा तत्रैव वाटिकायां भर्तृगमनजं दुःखं सस्मार । अपि चाहो ! क्व मे पितरौ क्व चाहं ?, मया यत्र-यत्र दृग्विन्यस्यते तत्र सर्वत्र पत्यभाव एव विलोक्यते । हा प्राणनाथ ! प्रतिक्षणं ते मुखाब्जा-कृतिस्मरणं कुर्वत्या मेऽक्षिणी जीमूतो जलधारामिवाश्रुधारां मुञ्चतः। हे पतिदेव ! त्वां विना कोऽरण्यसमानायामस्यां वाटिकायां मह्यं सायं स्थानं दास्यति। अन्यच्च कथमहं स्वशीलव्रतं रक्षिष्यामि ? किं बहु निगदामि किमनुतिष्ठामि ? हे पतिदेव ! त्वदभावेऽहं सर्वतो दिङ्मूढा निश्शोभा गतविचारा च जातास्मि । सैवविधं नानाविलापजं परिदेवनं चिरं विधायोत्थाय च दृशावितस्ततः परिभ्रम्यावलोकयति स्म । ततः कुत्रापि स्वाम्यभिज्ञानमल-भमानातीवोदासीना सती तत उदस्थात् । निजेशं विलोकयन्ती वाटिकोपकण्ठे कुलालमेकमद्राक्षीत् । अथ तत्समीपं गत्वेयं सुबाला मृद्व्या संबन्धसूचिकया दीनया गिरा तमगादीत्- हे बान्धव ! यदि त्वं मां स्वसारमिवाङ्गीकुर्यास्तर्ह्यहमन्यदेशनिवासिनी स्वदुःखपूर्णां विज्ञप्तिं श्रावयेयम् ।

फिर, रे मन ! उस पति के विरह में चैन से रहे हुए तुम मुझे क्यों लजाते हो ? इससे तो अच्छा होता कि वाघिन आकर मुझे खा लेती, यही बेजोड़ दवा मेरी इलाज के लिए हो । इस तरह अनेक प्रकार से बार-बार अपने कर्म के दोषों को निकाल (कह) कर उस समय अकेली ही वह बेचारी अपनी बेसमझी से पहले (पूर्व जन्म में) किये हुए कर्मों की निन्दा

की । फिर बोल-बोलकर खूब रोने लगी, हाय ! पूर्व जन्म में मैंने करोड़ों बड़े पाप किये हैं, जिससे मेरे पति मुझे इसी तरह रास्ते में ही छोड़कर चले गये । अब मैं पति के बिना कहाँ जाऊँ ? इस समय पूरे प्रेमवाले गायों के बछड़े भी दूध पीने के लिए अपनी माँ के पास गये । हर एक मकान में दीपों की कतारें जलने लगीं । रात्रिचर (रात में चलने वाले राक्षस आदि) पागल होकर नाचने लगे । वियोगिनियों के विरह-पीड़ा को बढ़ाने वाला चन्द्रमा भी उग गया और उस (चन्द्रोदय) से विरहिणी स्त्रियाँ अधिक दुःखित होने लगी । अब, मैं अनाथ (पति के बिना) क्या करूँ ? चक्रवाकी (चकली) की तरह मैं बहुत दुःख की भारवाली हो गयी हूँ । इस तरह अनेक प्रकार से विलाप कर वह उसी बगीचे में पति के चले जाने के दुःख को स्मरण करने लगी । और भी हाय ! मेरे माता-पिता कहाँ ? और मैं कहाँ ? मैं जहाँ-जहाँ नजर डालती हूँ, वहाँ सभी जगह पति का अभाव ही देखती हूँ । हा प्राणनाथ ! हर समय तुम्हारे मुख-कमल को याद करती हुई मेरी आँखे मेघ रूप होकर जल धारा की तरह आँसु की धारा छोड़ रही हैं। हे पतिदेव ! तेरे बिना कौन जंगल समान इस बगीचे में मुझे सायंकाल में स्थान देगा ? । और दूसरी बात यह कि- तुम्हारे बिना मैं अपने शीलव्रत की रक्षा कैसे करूंगी ? बहुत क्या कहूँ, क्या करूँ ? हे पतिदेव ! तुम्हारे बिना मुझे चारों तरफ कुछ भी नहीं दिखाई देता ? मैं बिना शोभा वाली और बिना विचार वाली हो गयी हूँ । वह इस तरह अनेक प्रकार से खूब चिल्ला-चिल्लाकर रोकर और उठकर आखें इधर-उधर घुमाकर देखने लगी । फिर कहीं भी पति को अपनी ओर आते नहीं देख अत्यन्त उदासीन होती हुई वहाँ से उठ चली । अपने पति को ढूंढ़ती हुई बगीचे के नजदीक एक कुम्हार को देखा, फिर उसके पास जाकर वह नवयुवती पहचान कराने वाली दीनताभरी कोमल वाणी से उसको कहने लगी- हे

भाई ! तुम मुझे अपनी बहन की तरह मानो तो दूसरे देश की रहनेवाली मैं तुम्हें कुछ अपनी दुखभरी बात सुनाऊँ ।

अथ दयालुरतिसज्जनः कुम्भकारोऽपि दयां विधाय प्रत्यवोचत्- हे स्वसः ! यत्स्वदुःखं भवेत्तन्निवेदय, मया त्वं स्वसृत्वेनाङ्गीकृतासि । तन्निशम्य सा प्राह-हे भ्रातर्महानुभाव ! शृणु, मामत्रस्थां मुक्त्वा मे पतिः क्वापि दानग्रहणाय गतोऽस्ति, स चाधुनापर्यन्तं मत्समीपे नो समागतः, तस्य बहुवेला व्यतिगता । अथाहं निर्नाथा क्व गच्छामीति विचार्य, अन्यत्र कुत्राप्याधारभूतं त्वत्समानमन्यजनमलभमाना त्वदन्तिके समागमम्। हे प्रियबान्धव! अतःपरं त्वमेव ममाधारभूतः शरणभूतश्चासि नान्यः कोऽपि । अथ हे करुणासागर ! ममोपर्यनुग्रहं विधाय मामाज्ञापय यदहं पत्यागमनावधि त्वद्गृहे निवासं कुर्याम् । एवंविधानि स दुःखप्रलपितानि विनयसुन्दरीवचनान्याकर्ण्य दयार्द्रचेतसा परोपकारिणा तेन तस्याः पुण्यशीलमाहात्म्येन स्वभगिनीत्वेनाङ्गीकृत्य सम्यक् प्रकारेणाऽऽश्वास्य च स्वगृह एव सा रक्षिता । ततः शीलशृङ्गारशोभिता सा तत्र कुलालसद्मनि सतीत्वपवित्रगुण-गणवती शीलव्रतरक्षाहेतोः सुनियमान् धारयामास । तानाह-भर्त्तुर्मिलनावधि मया भूमौ शयनीयं, शोभार्थं स्नानं न करणीयं, सुन्दरवस्त्राणि त्याज्यानि, पुष्पाङ्गरागविलेपनं त्याज्यं, ताम्बूललवङ्गैलाजातिफलादीनि नास्वाद्यानि वै, शरीरमलमपि विभूषार्थं नापनेयं, सर्वहरितशाकानि त्याज्यानि, पुनर्दधिदुग्धपक्वान्नगुडखण्डशर्करापायसप्रभृतिं सरसमाहारं न भोक्ष्ये, किन्तु नीरस एवाहारो मया ग्राह्यः, सदैकभुक्तमेव कार्यं, महत्कार्यं विना गृहाद् बहिर्न निर्गन्तव्यं, गवाक्षेषु न स्थातव्यं,

लोकानां विवाहाद्यपि न वीक्षणीयं, सखीभिः सहापि नर्मालाप-पुरुषस्त्रीशृङ्गारहास्यविलासनेपथ्यादिका विकथा नैव कार्या, वैराग्यकथैव परिकथनीया परिवर्त्तनीया च । कर्मकरादिभिः सहाप्यालापसंलापादिकं विशेषतो न कार्यं, तर्हि अन्यपुरुषैः सह तु दूरे एव, *किं बहुना चित्रस्था अपि पुरुषा नावलोकनीयाः ।*

अनन्तर दयालु, अत्यन्त सज्जन कुंभकार (कुम्हार) भी दया करके बोला- हे बहिन ! जो तुम्हारा दुःख है, वह अच्छी तरह कहो, मैंने तुझे अपनी बहन स्वीकार कर लीया । यह सुनकर वह बोलने लगी- हे मान्यवर भाई ! सुनो- मेरा पति मुझे यहाँ छोड़कर कहीं दान लेने के लिए गया हुआ है और वह अभीतक मेरे पास नहीं आया, उसको बहुत देर हो गयी । अब, मैं पति के बिना कहाँ जाऊँ ? यह विचारकर, कहीं दूसरी जगह तुम्हारे समान किसी दूसरे व्यक्ति का सहारा नहीं पाती हुई तुम्हारे समीप आयी हूँ । हे प्यारे भाई ! अब इसके आगे- तुम ही मेरा सहारा हो और रक्षक हो, दूसरा कोई भी नहीं । हे दया सागर ! अब, मेरे ऊपर दया करके मुझे आज्ञा दो कि मैं अपने पति के आने तक तुम्हारे घर में रहुं।

इस तरह दुःखों से भरी विनय सुन्दरी की बातों को सुनकर दया से पिघला हुआ चित्त वाला परोपकारी उस कुंभार ने उसके पुण्यशील के प्रभाव से अपनी बहन की तरह मानकर और अच्छी तरह संतोष-भरोसा देकर अपने घर में ही उसे रखा । उसके बाद शील रूपी आभूषणों से शोभती हुई वह उस कुंभार के घर में सती-धर्म के पवित्र गुणों को धारण करनेवाली अपने शीलव्रत की रक्षा के लिए अच्छे नियमों को धारण करने लगी । उसके नियमों को बतलाते हैं- पति के मिलने तक मैं भूमि पर ही सोऊँगी, शोभा के (शृङ्गार के) लिए स्नान नहीं करूँगी, शोभावर्द्धक कपड़े

नहीं पहनूंगी, फूलों और चन्दन-केसर कस्तूरी आदि को अंग में नहीं लगाऊँगी, पान, लौंग, इलायची और जायफल आदि नहीं खाऊँगी, शरीर का मैल भी शोभा बढ़ाने के लिए नहीं हटाऊँगी, सभी हरे ताजे शाक छोड़ दूंगी और दही, दूध, मिठाई-पूड़ी, गुड़, मिसरी, चीनी और खीर आदि नहीं खाऊँगी, बल्कि बिना रस का ही भोजन करूँगी, हमेशा एक ही समय भोजन करूँगी, बहुत जरूरी काम के बिना घर से बाहर नहीं निकलूंगी । झरोंखों पर नहीं बैठूंगी । लोगों के विवाह आदि भी नहीं देखूंगी, सखी-सहेलियों के साथ भी हंसी-दिल्लगी की बात, पुरुष-स्त्री के शृङ्गार, हंसी-मजाक, विलास और नेपथ्य की बुरी (कामजगाने वाली) बातें नहीं करूँगी । वैराग्य की कथा ही अच्छी तरह कहूँगी और वैराग्य ही धारण करूंगी । नौकर-चाकर से भी विशेष गप-शप नहीं करूँगी फिर दूसरे पुरुषों की बात तो दूर रही । अधिक क्या ? *चित्र में रहे हुए पुरुषों को भी नहीं देखूंगी* ।

यतः- क्योंकि -

लज्जा दया दमो धैर्यं, पुरुषालापवर्जनम् ।
एकाकित्यपरित्यागो, नारीणां शीलरक्षणम् ॥११॥

लज्जा, दया, इन्द्रियों की रोक-थाम, धैर्य धारण करना, अन्य पुरुष के साथ विशेष बातचीत को त्याग देना, अकेलेपन का त्याग, ये कार्य स्त्रियों के शील रक्षक होते हैं ।।११।।

एवं कुर्वती तत्र कुलालगृहे सुखेन निवसति स्म ।

इतः स मन्त्री तेन व्यवहारिणा सह सुखेन रत्नद्वीपं गतः। तत्र सुरपुरनाम नगरं पुरन्दराभिधश्च राजा राज्यं शास्ति स्म । अथ तेन व्यवहारिणा स्वप्रवहणेभ्यः सर्वक्रयाणकान्युत्तार्य वखारेषु

निक्षिप्तानि । तेषां क्रयविक्रयादिः सर्वो व्यवसायस्तेन श्रेष्ठिना मन्त्रिणे समर्पितः, तेन स मन्त्री तत्र सर्वव्यवसायं करोति स्म। सागरदत्तो व्यवहारी तु नगरान्तः स्थितः गणिकायामासक्तोऽजनि, तस्या गृहे स सागरदत्तो व्यवहारी तस्यां मुग्धमना निरन्तरं तया सार्द्धमभिनवान् भोगाननुबभूव । अतः सूर्यस्योदयास्तावपि न जानाति स्म । शास्त्रेऽप्युक्तं यैर्निजशीलरत्नं विलुप्तं तैर्धनादिजन्म-समस्तं हारितम् ।

इस तरह करती हुई वह उस कुंभार के घर में सुख से रहने लगी। इधर वह मन्त्री उस सेठ के साथ सुख से रत्नद्वीप में गया । वहाँ सुरपुर नाम का नगर था और पुरंदर नाम का राजा राज्य करता था । अब उसने अपनी नौकाओं (जहाज) से सभी वस्तुओं को उतारकर वखारों में डाल दिया । उन वस्तुओं के खरीदने और बेचने का सब हक्क उसने मन्त्री को सौंप दिया । इसलिए वह मन्त्री वहाँ सब व्यापार करने लगा और सागरदत्त सेठ उस नगर में रहनेवाली वेश्या में आसक्त हो गया । वह सागरदत्त सेठ उस वेश्या के घर में रहता हुआ उस (वेश्या) में मोहित होकर हमेशा उसके साथ नये-नये भोग-विलासों का अनुभव करने लगा, इसलिए, सूर्य का उगना और डूबना भी नहीं जानता था । शास्त्र में भी कहा है कि- जिसने अपना शील (ब्रह्मचर्य, सदाचार) रूपी रत्न को गुमा दिया उसने धन आदि सारा जीवन हार दिया ।

यतः- क्योंकि -

दत्तस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो गोत्रे मषीकूर्चक-
श्चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुणगणारामस्य दावानलः ।
सङ्केतः सकलापदां शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः,

शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्यचिन्तामणिः ।।१२।।

जिसने तीनों लोक में चिन्तामणि समान अपना शील खो दिया उसने संसार में अपयश के ढिंढ़ोरे पिटवा दिये, अपने वंश में कालिमा लगाई, चारित्र धर्म को जलांजलि दे दी, गुणों के समुदाय रूपी उद्यान में आग लगा दी, सारी विपत्तियों को (अपने पास आने के लिए) इशारा कर दिया और मोक्ष रूपी नगर के दरवाजे पर मजबूत बंधन लगा दिया अर्थात् अपना सर्वस्व खो चूका ।।१२।।

पुनस्तेन कुशीलेनापध्यानमर्त्तिं विपत्तिं च परस्त्रीलम्पटा जना दिने-दिने लभन्ते, तांश्च परदारवेश्यादिभोगिनो निन्दितनरा-स्तथा ये दुर्जनाः पिशुनाः छलान्वेषिणश्च ते प्रतिपदं निगृह्णन्ति । राजादिलोका दण्डयन्ति स्वजनादयश्चापि निर्भर्त्सयन्ति ।

और उस खराब आचरण से परस्त्री में लम्पट लोग खराब ध्यान, विपत्ति और शारीरिक दुःख दिन-दिन पाते हैं, और उन परस्त्रीगामी तथा वेश्यागामी जनों को क्षुद्र व्यक्ति तथा दुर्जन, चुगल खोर और दोष ढूंढ़ने वाले बात-बात में उनका निग्रह करते हैं, राजादि लोग उनको दण्डित करते हैं, और स्वजनादि उनकी निर्भस्तना करते हैं ।

यतः- क्योंकि -

कलिः कलङ्कः परलोकदुःखं,
यशश्च्युतिर्धर्मधनस्य हानिः ।
हास्यास्पदत्वं स्वजनैर्विरोधो,
भवन्ति दुःखानि कुशीलभाजाम् ।।१३।।

झगड़ा, बदनामी, परलोक में दुःख, अपयश, धन और धर्म की हानि, लोगों में हँसी, अपने भाइयों से वैर-विरोध, ये दुःख

कुशील वालों (बद चलन-परस्त्रीगामी, वेश्यागामी) को होते हैं।।१३।।

अथ स श्रेष्ठी विषयमोहितस्तस्यै गणिकायै प्रसादभूतं मुद्रालक्षं ददौ। स च यानि यानि कार्याणि गणिका समाज्ञापयति स्म तानि सर्वाणि तत्क्षणमेवातिहर्षेण विदधे। कुललज्जामर्यादा-दीनगणयित्वा यथा मद्यपाः परवशदेहा भवन्ति तथा सोऽपि विषयमदान्धो बभूव।

इसके बाद उस सेठ ने विषय में मोहित होकर उस वेश्या को खुश होकर लाख रुपये दिये। और जिस-जिस कार्य का वेश्या हुक्म देती थी सेठजी उन कामों को फौरन (उसी समय) ही बड़े आनन्द से कर डालते थे। जैसे शराब पीने वाला कुल की लाज और मर्यादा (इज्जत) आदि को नहीं गिनकर अपने देह की सूध भी (भूल) जाता है उसी तरह वह सेठ भी विषय रूपी मद से अंधा हो गया।

यतः- क्योंकि -

यौवनं धनसंपत्तिः, प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय, किं पुनस्तच्चतुष्टयम् ॥१४॥

जवानी, धन-दौलत, प्रभुता और बेवकूफी, ये एक-एक भी दुनिया में बरबाद करने वाले हैं, फिर जहाँ ये चारों इकट्ठे हों वहाँ क्या कहना? ।।१४।।

पूर्वमहर्षिभिर्विद्वद्वर्यैरपि स्त्रीदेहमुद्दिश्य धर्मशास्त्रे नीति-शास्त्रेऽपि च सर्वेषां बन्धनरूपं भणितमस्ति।

प्राचीन महर्षियों और विद्वानों ने भी स्त्री देह (कामिनी) को लक्ष्य में लाकर धर्मशास्त्र और नीति शास्त्र में भी सब के लिए स्त्री को बन्धन

रूप कहा है :-

यथा-

जैसे -

संसारे हयविहिणा, महिलारूवेण मंडियं पासं ।
बज्झंति जत्थ मुद्धा, जाणमाणा अजाणमाणा वि ॥१५॥

(संस्कृत छाया) -

संसारे हत-विधिना महिला-रूपेण मण्डितः पाशः ।
बध्यन्ते यत्र मुग्धा ज्ञायमाना अज्ञायमाना अपि ॥१५॥

बदनसीबी ने इस संसार में कामिनी रूप पाश (जाल) को फैला दिया, जिस जाल में मोह को प्राप्त हुए व्यक्ति जानते हुए और नहीं जानते हुए भी बँध (फँस) जाते हैं ।।१५।।

नोट - ध्यान रहे कि दूरदर्शी ऋषियों, मुनियों, ज्ञानियों और पूर्वाचार्यों ने मदमाती, मर्यादाहीन कामिनी को ही महिला रूप पाश कहा है, न कि धर्मपरायणा पतिव्रता, सच्चरित्रा, सती-शिरोमणि सीता, सुभद्रा आदि आदर्श नारी को, बल्कि इन भारतीय आदर्श-ललनाओं के समान पतिव्रता सच्चरित्राओं को तो उन्होंने मानव के ऐहिक पारलौकिक सुख प्राप्ति में परिपूर्ण सहायिका मानी है ।

मदिराया गुणज्येष्ठा, लोकद्वयविरोधिनी ।
कुरुते दृष्टमात्रापि, महिला ग्रथिलं जनम् ॥१६॥

शराब से गुण में बड़ी (शराब की बड़ी बहिन) कामिनी दोनों लोक में विरोध करानेवाली है, क्योंकि- मदमाती, सुन्दरी देखने मात्र से ही लोगों को प्रायः पागल बना देती है ।।१६।। कहा भी है-

"जे मुनि ज्ञान निधान, मृगनैनी विधु-मुख निरखि ।
विकल होत हरियान, नारि विश्व-माया प्रगट" ।।

अपि च-

और भी -

तावद्धीरोऽतिवीरः सम-रस-रभसावेगगाहे गभीर-
स्तावद्धर्मे दृढोऽसौ श्रुतिमुखगदिते पण्डितोऽप्यत्र तावत् ।
तावल्लज्जा सपर्या मननिपुणता योगवासिष्ठनिष्ठा,
यावत्सस्मेरनारीनयनतटगतापाङ्गभल्ली न लग्ना ।।१७।।

मानव तब तक संग्राम में हर्ष के साथ तेजी से धीर और वीर (बहादुर) रहता है, धर्म में तब तक पक्का और गहरा विचारवाला रहता है और शास्त्रों में कही गयी बातों में पण्डित भी तभी तक रहता है, तभी तक लाज, पूजा पाठ, ज्ञान-ध्यान में कुशल रहता है तथा योग-वासिष्ठ (योगशास्त्र) में निष्ठा (आस्था) वाला रहता है, जब तक मुस्कराती हुई मदमाती सुन्दरियों के चंचल आखों के कटाक्ष रूपी भाले (चंचल-तिरछी नजरें) उसको नहीं लगे।।१७।।

कहा भी है -

"बुधि-बल-शील-सत्य सब मीना,
वंशी सम तिय कहहिं प्रवीना"

एवं स श्रेष्ठी विषयासक्तत्वाद्बहु धनव्ययं कुर्वन् वाराङ्गनागृहे तिष्ठति स्म । अथैकदा सा वाराङ्गना मनस्येवं विचिन्तयामास यद्यस्य वणिजो मुनीमाख्यो यो धर्मबुद्धिनामा सर्वव्यापाराधिकारी वर्तते, स यदि केनचिदप्युपायेनास्माकं गृहे

समागच्छेत्तर्हि स मुख्यत्वान्मे बहुधनं दत्त्वा सम्यक् संतोषयेद् नूत्नस्नेहत्वादिति विचिन्त्य तन्मनश्चालनाय सा षोडशशृङ्गारान् व्यधात् ।

इस तरह वह सेठ विषय में फँसा हुआ बहुत धन बरबाद करता हुआ वेश्या के घर में रहता था। अनन्तर एक समय वह वेश्या अपने मन में ऐसा विचार करने लगी कि- यदि इस सेठ का मुनीम धर्मबुद्धि नाम का जो सभी व्यापारों का अधिकारी (मालिक) है वह किसी उपाय से मेरे घर पर आ जाय तो वह मुखिया (व्यापार का प्रधान) होने से मुझे बहुत धन देकर नया-स्नेह होने के कारण अच्छी तरह संतुष्ट करेगा, यह विचारकर उस मन्त्री (मुनीम) के मन को चलायमान करने (लुभाने) के लिए वह वेश्या सोलह-शृङ्गारों को सजने लगी।

यथा-

जैसे -

आदौ मज्जनचारुचीरतिलकं नेत्राञ्जनं कुण्डलं,
नासामौक्तिकहारपुष्पनिकरं झङ्कारयन्नूपुरम् ।
अङ्गे चन्दनचर्चितं कुचमणिः क्षुद्रायली घण्टिका,
ताम्बूलं करकङ्कणं चतुरता शृङ्गारकाः षोडशः ॥१८॥

प्रथम अच्छी तरह स्नान करना, फिर उत्तम कपड़े पहनना, तिलक (कपाल में बिन्दी) करना, आखों में काजल करना, कानों में कुण्डल पहनना, नाक में नासामणि (बुलकी) धारण करना, गले में हार, माथा के जूड़े (केस बन्ध) पर फूलों के गुच्छे लगाना, पैरों में नूपुर (पांवजेब-पायल) पहनना, अंग पर चन्दन का विलेपन करना, कुचमणि (स्तनों को ऊँचे-खड़े रखने का वस्तुविशेष-या

वस्त्र विशेष–चूचकस) धारण करना, करधनी धारण करना, घंटिका–कमर कस धारण करना, पान खाना, हाथों में कंगन पहनना और बोलने में चतुराई–निपुणता (कोमल–मीठी–मुस्कुराहट के साथ बोलना) ये सोलह शृङ्गार कामिनियों के हैं ।।१८।।

एभिः शोभनशृङ्गारैः स्वदेहं साक्षात्स्वर्वेश्येव विधाय कपटनाट्यैकपटुः कट्या सिंहं, वेण्या शेषनागं, मुखेन मृगाङ्कं, गत्या गजं, अक्ष्णा मृगीं, स्वसुन्दररूपेण रतिं च पराजयमाना, परितः कटाक्षबाणान् विक्षिपन्ती, भ्रमरावलीसमालका भ्रूधरा कामुकजनप्राणान् कामबाणेन विध्यन्ती स्वर्णरेखाशोभित-दन्तावलिका कृतवक्रमुखी करशाखायां परिहितमुद्रिकां मुहुर्मुहुः प्रपश्यन्ती, शिरोवेण्यां ग्रीवायां पञ्चवर्णपुष्पमालाधरा च साक्षात्क-ल्पलतेव शोभमाना घनकुचकुम्भभारैरानम्रीभूतहृदया चलन्ती प्रतिपदं स्नेहं प्रकाशयन्ती गम्भीरनाभिका कृशोदरी नूपुरं रणत्काररवं वादयन्ती पिकीव प्रियभाषिणी जितेन्द्रियाणा-मनेकसाहसिकानां चापि सत्त्वभञ्जिका, एवं प्रकारा सा गणिका भूत्वा मन्त्रिणोऽग्रे समाजगाम । चागत्य वेणीकचानुत्कचवयन्ती मुखेनोच्छ्वसन्ती आलस्यभरेणाङ्गं मोटयन्ती कञ्चुकीबन्धनं च शिथिलीकुर्वती अनेकहावभावविभ्रमादिविलासान् कुर्वाणा स्ववशानयनाय स्वात्मानं मन्त्रिणं दर्शयामास ।

इन सोलह सुन्दर शृङ्गारों से अपने देह को साक्षात् स्वर्ग की अप्सरा की तरह बनाकर छल–कपट रूपी नाट्य में पण्डिता वह वेश्या–अपनी कमर से सिंह को, चोटी से शेष नाग को, मुख से चन्द्रमा को, चाल से हाथी को, आखों से हरिणी को और अपने मनोहर रूप से रति

को भी पराजय करती हुई, चारों ओर चंचल तिरछी नजर रूप बाणों को फेकती हुई, भौंरों के समान अलका (माथे पर बालों की लटें) को धारण करनेवाली, धनुष के समान भौंह वाली कामुक जनों के प्राणों को कामबाण से बींधती हुई, सुवर्ण की रेखा से शोभित दातों वाली टेढ़ा मुंह करके अंगुलियों में पेन्ही हुई अंगूठी को बार-बार निहारती हुई, मस्तक की वेणी (चोटी) और गले में पांच वर्णों के पुष्पों की माला को धारण करनेवाली साक्षात् कल्पलता की तरह शोभती हुई, घड़े के समान विशाल स्तनों की भार से झुके हुए हृदयवाली, चलती हुई पग-पग में प्रेम को प्रगट करती हुई, गहरी नाभिवाली, पतली कमरवाली, नूपुर (पायल) को रन-रनाती (झन-झनाती) हुई कोयल की तरह मीठे स्वरवाली जितेन्द्रियों और साहसियों के भी पराक्रम को चकनाचूर कर देनेवाली, इस तरह का रूप धारण कर वह वेश्या मन्त्री के सामने आ गयी और आकर चोटी को खोलती हुई, मुख से हांफती हुई आलस के भार से अंगों को मरोड़ती हुई, कंचुकी की गांठ (बटन) को ढीली करती हुई, अनेक तरह के हाव, भाव, विभ्रम और विलास को करती हुई मन्त्री को अपना वश में लाने के लिए अपनी आत्मा (अपने स्वरूप) को दिखलाने लगी।

तथाहि- जैसे-

हावो मुखविकारः स्याद्, भावश्चित्तसमुद्भवः ।
विलासो नेत्रजो ज्ञेयो, विभ्रमो भ्रूसमुद्भवः ॥१९॥

मुख के विकार-चेष्टा "हाव" कहे जाते है, चित्त (हृदय, मन) के विकार "भाव" कहे जाते हैं, नेत्र के विकार "विलास" कहे जाते हैं और भौंह के विकार (चेष्टाः) "विभ्रम" कहे जाते हैं ।।१९।।

अथ नृत्यपूर्वकं हावभावादिविषयासक्तं युवकगणं कुर्वतीं

तां गणिकां प्रति सद्गुणसमुद्रो मन्त्री जगाद-अये विरूपभाषा-भाषिणि ! कथमेवं प्रलपसि त्वं केनाहूतासि ? उन्मत्तेव वारं-वारं किमर्थमसमञ्जसं भाषसे ? हे विषनेत्रे ! हे दुष्टालापिनि ! त्वमत्र मा किमपि वद, नाहं त्वया साकं समागमिष्यामि, न किमपि कथयिष्यामि, नैव च कदापि त्वां सेविष्ये ।

फिर नाच करती हुई हाव-भाव आदि से युवकजनों को विषय में आसक्त करती हुई उस वेश्या के प्रति अच्छा गुण समुद्र-मन्त्री बोला- अरी! खराब बात बोलनेवाली, तुम इस तरह क्यों बकती हो ? तुम्हें किसने बुलाया है ? तुम पागल की तरह बार-बार क्यों अनुचित बोल रही हो ? हे विषैले आखोंवाली, हे दुष्ट-आलाप करनेवाली, तुम यहाँ कुछ भी मत बोलो, मैं तेरे साथ नहीं आ सकूंगा, न कुछ भी कहूंगा और कभी भी तुम्हे नहीं सेवूंगा ।

यतः- क्योंकि -

कश्चुम्बति कुलपुरुषः, वेश्याधरपल्लवं मनोज्ञमपि ।
चारभटचौरचेटक-नटविटनिष्ठीवनशरावम् ॥२०॥

कौन कुलीन पुरुष सुन्दर भी वेश्या के अधर-पल्लव (होठ) को चुम्बन करता है ? अर्थात् कोई नहीं, कारण कि वेश्या का होठ- नौकर-चाकर, भांट-भिखार, चोर-डाकू, नट और जारों के थूक का प्याला है ॥२०॥

या विचित्रविटकोटिनिघृष्टा,
मद्यमांसनिरतातिनिकृष्टा ।
कोमला वचसि चेतसि दुष्टा,
तां भजन्ति गणिकां न विशिष्टाः ॥२१॥

जो रंग-बिरंग के करोड़ों जारों द्वारा बार-बार भोगी गयी और शराब तथा माँस खानेवाली अत्यन्त अपवित्र है तथा वाणी में कोमलता और मन में क्रूरता से भरी है, ऐसी उस वेश्या को विशिष्ट (अच्छे, भले) व्यक्ति कभी नहीं सेवते ।।२१।।

अपि च-

औंर भी -

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलाङ्गाय च,
ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च ।
यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलवश्रद्धया,
पण्यस्त्रीषु वियेककल्पलतिकाशस्त्रीषु को रज्यते ? ।।२२।।

जो वेश्याएँ थोड़ी सी लक्ष्मी (पैसे) के लिए जन्म के अंधे (पुरुष) को, कुरूप को, बुढ़ापे से शिथिल (ढीले) अंगवालों को, गमारों को, नीचों (दलित लोगों) को और गलित कुष्ठ वालों पर अपने सुन्दर शरीर को न्यौछावर करती हैं, उन विवेक रूपी कल्पलता को काटनेवाली शस्त्र समान वेश्याओं में कौन (विचार-शील) राग (प्रेम) करता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ।।२२।।

अथ मे सम्मुखमपि मा पश्य, कथं मद्गृहे विनादेशं समागता ? पुनर्हे गणिके ! मद्वाक्यं शृणु-यदि त्वं केवलस्वर्णमयी भवेस्तथाप्यहं त्वां नाभिलषामि, नानुरक्तो भवामि, नास्ति सप्तधातुकेऽस्मिन् ते देहे मे भोगरुचिः, एषा तनुर्दुर्गन्धपूर्णा चर्ममण्डिता सद्बुधैर्निन्दिता द्वादशभिः छिद्रैरहर्निशं मलवाहिनी सर्वतोऽशुच्यागारभूता । एवंभूतां तनुं पुरीषाभिलाषुका एवाङ्गी-कुर्युर्नान्ये । अतोऽहं ते विग्रहं मनसापि नाभिलष्यामि, तर्हि

कायेन किम् ? पुनर्या स्त्री मद्यपा इवोन्मत्तास्मिन् लोकेऽकार्यकर्त्री विलोक्यते सा दर्शनमात्रेणैव सर्वमैहिकं पारत्रिकं च पुण्यं विनाशयति । यत्स्वभाषितं तदपि न सत्यापयतीति सा कथं विश्वासार्हा ? अनेनैव कारणेन महानर्थमूला स्त्रीतनुरिति ज्ञात्वा ज्ञानिनो लोकाः परदारसङ्गं त्यजन्ति । *कुतो विषयाब्धिनिमग्नैः सद्भिरेकवारमपि यत्परदारगमनं विधीयते, तर्हि तैरेकविंशतिवारं सप्तमनरकदुःखमनुभूयत एव ।*

अब, मेरे सामने भी मत देखो, बिना आज्ञा के मेरे घर में क्यों आ गयी ? फिर हे वारांगने ! मेरी बात सुनो– यदि तुम निखालिश सोने की हो जाओ, फिर भी मैं तुम्हें नहीं चाहूँगा और न प्रेम करूँगा, सात धातुओं से बने हुए तुम्हारे इस देह में मेरी भोग की इच्छा नहीं है । यह शरीर दुर्गन्धमय है, चाम से ढका हुआ है, ज्ञानियों ने इसकी निन्दा की है। द्वादश (बाहर) छिद्रों से निरन्तर मल निकलते रहते हैं, सब तरह से यह अपवित्र का भण्डार है । इस तरह के अपवित्र शरीर में पुरीष (पाखाना-टट्टी) की चाहना करनेवाले ही अनुराग करते हैं, दूसरे नहीं । इसलिए मैं तुम्हारे शरीर को मन से भी इच्छा नहीं करता हूँ, फिर शरीर से क्या ? फिर जो स्त्री शराबी की तरह मतवाली होकर कुकर्म करती हुई दीखती है वह देखने मात्र से ही इस लोक के और परलोक के सारे पुण्य का विनाश कर डालती है । जो अपने आप कहती है उसे भी सत्य करके नहीं दिखलाती वह (वेश्या) कैसे विश्वास के योग्य हो सकती है ? इसी कारण से "भारी खतरे की जड़ कामिनी का शरीर है ।" यह जानकर ज्ञानी लोग दूसरी स्त्री के संग (सहावास) को छोड़ देते हैं । क्योंकि, विषय रूपी समुद्र में डूबे हुए सज्जनों द्वारा एकबार भी जो पराई स्त्री के साथ व्यभिचार किया जाता है, उसके परिणाम स्वरूप उन्हें इक्कीस बार सातवें

नरक का दुःख भोगना ही पड़ता है ।

यदुक्तं-

कहा भी है -

तस्माद्धर्मार्थिभिस्त्याज्यं, परदारोपसेवनम् ।
नयन्ति परदारास्तु, नरकानेकविंशतिम् ॥२३॥

इसलिए धर्म की इच्छावालों को पराई स्त्री के साथ मैथुन (व्यभिचार) छोड़ देना चाहिए, क्योंकि, पराई स्त्री के साथे मैथुन इक्कीस बार कठोर नरक में ले जाता हैं ॥२३॥

तथा च युधिष्ठिरं प्रति भीष्मः -

और इसी तरह महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर के प्रति पितामह भीष्म का उपदेश है :-

न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ।
यथा हि पुरुषव्याघ्र ! परदारोपसेवनम् ॥

हे नर शार्दूल ! दूसरे की स्त्री के साथ मैथुन (व्यभिचार) जिस तरह शीघ्र आयुष्य को नष्ट कर डालता है, उस तरह आयु को नष्ट करनेवाला इस संसार में दूसरा कोई भी (परस्त्रीगमन जैसा) कुकर्म नहीं है ॥

अपि च-

और भी -

भक्खणे देयदव्वस्स, परत्थीगमणेण य ।
सत्तमं नरयं इंति, सत्तवाराओ गोयमा! ॥२४॥

(संस्कृत छाया) -

भक्षणे देवद्रव्यस्य परस्त्री गमनेन च ।
सप्तमं नरकं यान्ति सप्तवारं हि गौतम ! ॥२४॥

भगवान् महावीर कहते है कि हे गौतम ! देवद्रव्य के हड़पने से और पर स्त्री के साथ मैथुन सेवन करने से सातवीं नरक में सात बार जाना पड़ता हैं ॥२४॥

पुनरपि तद्दोषेणात्र लोक एव तैः क्लिबत्वं कुरोगित्व-मिन्द्रियहीनत्वं च लभ्यते। तेषां नामापि न कोऽपि गृह्णाति, एवं ते दुःशीलिनो निन्द्या दौर्भाग्यशालिनश्च जायन्ते । अत एव हे वाराङ्-गने ! न कदाप्यहं त्वय्यनुरक्तो भविष्यामि । एवंविधं मन्त्रिवाक्य-चातुर्यमाकर्ण्य तयान्ते ज्ञातम्-मम कलाकौशलमस्य शीलभ्रष्ट-करणे न प्रभवति । इति विमृश्य ततोऽपसृत्य च यथाऽऽगता तथैव सा स्वस्थानं त्वरितं परावर्तिष्ट । एवं परिवर्जितकुसङ्गस्य तस्य मन्त्रिणस्तस्मिन् सकलेऽपि नगरे शीलमहिमसुप्रसिद्धि-र्जाता ।

फिर भी उस परस्त्री के साथ व्यभिचार के पाप से इसी लोक में ही वे व्यभिचारी नपुंसक हो जाते हैं, खराब रोगों से ग्रसित होते हैं और उनकी इन्द्रियाँ भी नष्ट-भ्रष्ट (निकम्मी) हो जाती है । व्यभिचारियों का नाम भी कोई नहीं लेता, इस तरह वे कुकर्मी, निंदा के योग्य और बदनसीब (अभागे) हो जाते हैं । इसलिए, हे बाजार की जोरूँ ! मैं कभी भी तुम में अनुरागवाला नहीं हो सकूँगा । इस तरह मन्त्री की वाक्-चतुरता को सुनकर उस वेश्या ने अन्त में समझा कि- मेरी कलाकुशलता इसके शील (ब्रह्मचर्य) भ्रष्ट करने में समर्थ नहीं है । ऐसा विचारकर और वहाँ से निकलकर जैसी आयी थी उसी तरह वह अपने घर को शीघ्र लौट

गयी । इस तरह बुरे संग को छोड़ देनेवाले उस मन्त्री की उस सारे नगर में शील (सदाचार-ब्रह्मचर्य) महिमा की प्रसिद्धि हो गयी ।

यदुक्तं-

कहा है -

सीलं उत्तमवित्तं, सीलं जीवाण मंगलं परमं ।
सीलं दोहग्गहरं, सीलं सुक्खाण कुलभवणं ॥२५॥

(संस्कृत छाया) -

शीलं उत्तम-वित्तं शीलं जीवानां परमं मंगलम् ।
शीलं दुर्गतिहरं शीलं सुखानां कूल-भवनम् ॥२५॥

शील उत्तम धन है, शील प्राणियों का परम मंगल है, शील दुःख नाशक है, शील सुखों का खजाना हैं ॥२५॥

सुविसुद्धसीलजुत्तो, पावइ किर्त्तिं जसं च इहलोए ।
सव्वजणवल्लहो च्चिय, सुहगइभागी अ परलोए ॥२६॥

(संस्कृत छाया) -

सुविशुद्ध-शीलयुक्तः प्राप्नोति कीर्तिं यशश्च इहलोके ।
सर्व-जन-वल्लभश्चैव शुभ-गति-भागी च परलोके ॥२६॥

अखण्ड ब्रह्मचारी इस लोक में यश-प्रतिष्ठा और कीर्त्ति को प्राप्त करता है और सब का प्रिय होकर परलोक में मोक्ष का भागी होता है ॥२६॥

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं ॥२७॥

(संस्कृत छाया) -

देव-दानव-गन्धर्वा, यक्ष-राक्षस-किन्नराः ।
ब्रह्मचारिणं नमस्यन्ति, दुष्करं यत् कुर्वन्ति तत् ।।२७।।

जिस लिए, ब्रह्मचारी अत्यन्त दुष्कर (कठिन) ब्रह्मचर्य व्रत (तपस्या) करते हैं, इसलिए ब्रह्मचारी को देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर (देवयोनि के लोग) भी वन्दना करते हैं।।२७।।

अपि च-

और भी -

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्,
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते ।
व्यालो माल्यगणायते विषरसः पीयूषवर्षायते,
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ।।२८।।

जिस व्यक्ति के शरीर में समस्त लोक का अत्यन्त प्रिय शील (ब्रह्मचर्य) चमकता है, उसके (ब्रह्मचर्य के) प्रताप से अग्नि जल के जैसी हो जाती है, समुद्र एक छोटी क्यारी का जैसा, मेरु पर्वत छोटी शिला की तरह, शेर हरिण की तरह, सर्प माला की तरह और विष अमृत की तरह हो जाता है ।।२८।।

अथैकदा राज्ञा तन्नगरे तटाकं खानयितुं प्रारब्धं । ततः कियद्दिवसैर्लिखितताम्रपत्राणि निःसृतानि, जनैश्च राज्ञे समर्पितानि। राज्ञापि तत्र लिखितलेखपरिवाचनाय तानि पण्डितेभ्यः समर्पितानि, किन्तु तत्र लिप्यन्तरसद्भावात्कोऽपि तानि वाचयितुं न शक्नोति

स्म। तदा कौतुकप्रियेण राज्ञा पटहो वादितो यथा-यः कोऽप्य-मून्यक्षराणि वाचयिष्यति तस्य राजा *'स्वीयकन्यामर्द्धराज्यं च दास्यतीति' वाद्यमानः* पटहः क्रमेण मन्त्रिगृहसमीपमागतस्तदा मन्त्रिणा स पटहः स्पृष्टः । ततोऽमात्येन नृपसभायां गत्वा तानि ताम्रपत्राणि वाचितानि यथा-

यत्रैतानि पत्राणि निःसृतानि, ततः पूर्वस्यां दिशि दशह-स्तमितं गत्वा कटिप्रमाणं पृथिवीखनने सति तत्रैका महती शिला समेष्यति, तस्या अधश्च दीनाराणां दशलक्षाणि सन्ति, तन्निशम्य सर्वेषां चमत्कारोऽभूत् । कौतुकालोकोत्कण्ठितमानसेन राज्ञोक्तं तर्हि संप्रत्येव तत्र गत्वा विलोक्यते, ततः सर्वजनपरिवृतो राजा तत्र गतः । ताम्रपत्रोक्तविधिश्च तेन कारितः, दशलक्षाणि सुवर्णानां निःसृतानि, सर्वेषां महान् हर्षो जातो, राज्ञापि मन्त्रिणः प्रशंसा कृता, यदहो ! कीदृशं ज्ञानस्य माहात्म्यमिति ।

बाद में एक समय राजा ने उस नगर में तालाब खुदवाना शुरू किया, फिर कुछ दिनों में वहाँ ताम्र पत्र का लेख निकला । मजदूरों ने राजा को वह लेख दे दिया । राजा ने भी उस लेख (ताम्र पत्र लिपि) को पढ़ने के लिए पण्डितों को दिया । किन्तु उस ताम्र पत्र में दूसरी लिपि के अक्षर होने से कोई भी उसे नहीं पढ़ सका । तब कौतुक प्रिय (उस लेख से दिलचस्पी लेनेवाला) राजा ने ढिंढ़ोरा पिटवाया कि- जो कोई भी इन अक्षरों को पढ़ लेगा, उस व्यक्ति को राजा अपनी लड़की और अपना आधा राज्य देगा, इस तरह बजता हुआ ढोल (ढिंढ़ोरा) मन्त्री के घर के पास आया तब मन्त्री ने उस ढोल को स्पर्श कर दिया । फिर मन्त्री ने राजा की सभा में जाकर उन ताम्र पत्र के अक्षरों को पढ़ा, जैसे- ''जहाँ ये

ताम्र-पत्र निकले हैं उससे दश हाथ पूर्व दिशा में कमर के बराबर भूमि को खोद ने पर वहाँ एक बड़ी शिला मिलेगी और उस शिला के नीचे दश लाख सोना-मोहर हैं।'' यह सुनकर सब के सब आश्चर्य युक्त हुए। इस आश्चर्य को देखने के लिए उत्कण्ठित मनवाले राजा ने कहा - तो अभी वहाँ चलकर देखा जाय, फिर सभी लोगों के साथ राजा वहाँ गया। और ताम्र पत्र में कही हुई विधि (क्रिया खोदना) भी करवाई। दश लाख सुवर्ण मोहरे निकली, सभी को बड़ा हर्ष हुआ। राजा ने भी मन्त्री की प्रशंसा की कि- अरे! ज्ञान का माहात्म्य कैसा है।

यदुक्तं-

कहा भी है -

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च, नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥२९॥

पण्डिताई और राजापन कभी भी समान नहीं है, क्योंकि, राजा अपने देश में ही पूजा जाता है और विद्वान् सभी जगह पूजे जाते हैं, अर्थात् राजा से पण्डित का पलड़ा भारी है ॥२९॥

रूपयौवनसंपन्ना विशालकुलसंभवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते, निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥३०॥

अच्छे कुल में उत्पन्न, सौंदर्य और युवा अवस्था से युक्त भी व्यक्ति विद्या से हीन उस तरह शोभा नहीं पाते हैं जैसे किंशुक (ढाक-पलास) के फूल सूबसूरत होने पर भी गन्ध रहित होने से शोभा नहीं पाते ॥३०॥

वरं दरिद्रोऽपि विचक्षणो नरो,

नैवार्थयुक्तोऽपि सुशास्त्रवर्जितः।
विचक्षणः कार्पटिकोऽपि शोभते,
न चापि मूर्खः कनकैरलङ्कृतः ।।३१।।

बुद्धिमान् दरिद्र भी अच्छा, लेकिन मूर्ख धनी भी अच्छा नहीं, क्योंकि, चतुर कार्पटिक भी शोभा पाता है परन्तु सुवर्ण से अलंकृत भी मूर्ख नहीं शोभता ।।३१।।

अपि च-

और भी -

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं,
विद्या राजसु पूजिता नहि धनं विद्याविहीनः पशुः ।।३२।।

विद्या, मनुष्य का बहुत बड़ा रूप है, सुरक्षित गुप्त धन है, विद्या भोग (सुख) देती है और यश-किर्त्ति फैलाती है, विद्या गुरुओं का भी गुरु है । परदेश में विद्या सगे-संबन्धियों के समान हो जाती है, विद्या सब से बड़ी देवता है, विद्या राजाओं में पूजी जाती है, धन नहीं, विद्या से हीन मनुष्य (बिना सींग-पूछ का) पशु हैं ।।३२।।

हर्त्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति सर्वात्मना,
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं वृद्धिं परां गच्छति ।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं,
येषां तां प्रति मानमुज्झत जनाः कस्तैः सह स्पर्धते ।।३३।।

विद्या को कोई चुरा नहीं सकता और सभी तरह से विद्या

कल्याण करती है, विद्या (रूपी धन) याचकों (छात्रों) को देने से प्रति दिन बढ़ती ही है, कल्पान्त (सर्व नष्ट) में भी विद्या नष्ट नहीं होती, विद्या अन्दर का (आत्मा का) धन है, अतः हे लोगो ! जिन के पास विद्या है उनसे मान को त्याग दो, क्योंकि उनके साथ कौन स्पर्धा (प्रतियोगिता) कर सकता है ।।३३।।

किं च–

और भी –

पण्डितेषु गुणाः सर्वे, मूर्खे दोषास्तु केवलाः ।
तस्मान्मूर्खसहस्रेषु, प्राज्ञ एको विशिष्यते ।।३४।।

पण्डितों में प्रायः सभी गुण रहते हैं और मूर्खों में केवल अवगुण रहते हैं, इसलिए हजारों मूर्खों से एक पण्डित अच्छा है।।३४।।

अथ तत्कौशल्यचमत्कृतेन राज्ञा तस्मै मन्त्रिणे सौभाग्य–सुन्दर्यभिधानं स्वकन्यारत्नं निजं चाऽर्द्धराज्यं दत्तं । तथैवानेकहय–गजरत्नमणिमाणिक्यस्वर्णादिभृतानि द्वात्रिंशत्प्रवहणान्यर्पितानि। कुत एतानि वस्तूनि यत्र गच्छन्ति तत्र शोभामेव प्राप्नुवन्ति ।

अनन्तर उसकी चतुरता से आश्चर्य से आनन्दित होकर राजा ने उस मन्त्री को अपनी सौभाग्य सुन्दरी नाम की कन्या और आधा राज्य दे दिया, उसी तरह अनेक घोड़े–हाथी–स्वर्ण–जवाहिरात से भरे बत्तीस जहाज दिये । क्योंकि, ये चीजें जहाँ जाती है वहाँ शोभा को ही प्राप्त होती हैं ।

यतः– क्योंकि –

पूगीफलानि पत्राणि, राजहंसास्तुरङ्गमाः ।

स्थानभ्रष्टाः सुशोभन्ते, सिंहाः सत्पुरुषा गजाः ॥३५॥

सुपारी, पत्ते, राजहंस, घोड़े, सिंह, सत्पुरुष और हाथी ये अपने स्थान से दूसरी जगह अधिक शोभा पाते हैं ॥३५॥

अथैवंविधां तस्य समृद्धिं दृष्ट्वा स सागरदत्तश्रेष्ठी निजहृदि प्रज्वलितुं लग्नः । ततः स श्रेष्ठी निजशेषक्रयाणकानि विक्रीय तत्रस्थैर्नानाविधैरपरैः क्रयाणकैः प्रवहणान्यापूर्य पश्चान्मनसि मन्त्रिधनस्त्रीर्ष्यया ज्वलन् स्वदेशीयत्वात्केनचिज्जनेन मन्त्रिणमाकारयामास । यदा मन्त्रिणापि निजश्वशुराय राज्ञे प्रोक्तं यदहं यास्यामि स्वदेशं, तदा पुना राज्ञाप्यर्द्धराज्यमूल्यप्रमाणानि स्वर्णमाणिक्यादिरत्नैर्भृत्वा ह्यष्टौ प्रवहणानि तस्य समर्पितानि । ततः समुद्रतटं यावद्राजा तं प्रेषयितुं समायातः, तत्र राज्ञा स्वसुता सुष्ठुशिक्षया शिक्षिता तद्यथा- हे सुते ! मदीयस्य जामातुश्च कुलस्य येन प्रकारेण शोभा भवेत्तेनैव प्रकारेण त्वया श्वश्रूश्वशुरयोर्ज्येष्ठतत्पत्न्योश्च सुविनयः करणीयः । भर्त्तुरुक्त्यनुसारेणैव समस्तं कार्यं च कर्त्तव्यं, अनुचरवर्गातिथिप्रभृतीनां यथायोग्यमादरसम्मानौ च विधातव्यौ, सपत्न्या साकं स्वभगिनीतोऽप्यधिकतरप्रेम्णा वर्त्तितव्यं, किमहं बहूपदिशामि ? । तत्राखिलं शुभमेव विरचनीयमित्यादिकाः सुशिक्षाः सुतायै प्रदाय जामातरं च सम्यक् स्नेहेन संभाष्य संप्रेष्य च नृपः स्वस्थानमाजगाम । ततस्तौ मन्त्रिव्यवहारिणौ समुद्रमध्ये चलितौ । अथ स श्रेष्ठी मन्त्रिणो रत्नभृतानि प्रवहणानि रूपवतीं पत्नीं च दृष्ट्वा लोभदशां प्राप्तः सन् चिन्तयति स्म-अस्य मन्त्रिणः पत्न्यादिसर्वसंपत्तिर्ममैव चेत्स्यात्तर्हि जगति मन्ये स्वजन्म कृतार्थम् । अतिलोभित्वेन तेनैवंविधं दुष्टकर्म

विचारितम् ।

अब इस तरह (मन्त्री) की धन–सम्पत्ति को देखकर सागरदत्त नाम का सेठ अपने मन में जल ने लगा । उसके बाद वह सेठ अपना बाकी माल को बेचकर वहाँ के दूसरे मालों से जहाजों को भरकर पीछे मन्त्री के धन–स्त्री की डाह से जलता हुआ स्वदेशीय होने से किसी आदमी के द्वारा मन्त्री को बुलावा भेजा । तब मन्त्री ने भी अपने ससुर राजा को कहा कि– मैं अपने देश जाऊँगा, तब फिर राजा ने भी अपने आधे राज्य के मूल्य बराबर सुवर्ण, रत्न–माणिक्य आदि से आठ जहाज भरकर उस (मन्त्री) को दिये । फिर समुद्र के किनारे तक राजा उसको भेजने के लिए आया, वहाँ राजा ने अपनी लड़की को अच्छी शिक्षा दी, जैसे – हे वत्से ! मेरे और मेरे जमाई के कुल की शोभा बढे उसी तरह तुम वर्तन करना, सास और ससुर का, जेठ और जेठरानी का अच्छी तरह विनय करना और पति के कहे अनुसार ही सारे काम करना, एवं नौकर–चाकर और अतिथि आदि का यथायोग्य आदर और सन्मान करना, सौतिन के साथ अपनी बहिन से भी अधिक प्रेम से व्यवहार रखना, अधिक मैं क्या शिक्षा दूँ ? वहाँ हर तरह से अच्छा ही करना, इत्यादि अच्छी शिक्षा लड़की को देकर जमाई को भी अच्छी तरह प्रेम से समझा बुझाकर और भेजकर राजा अपने स्थान में लौट आया । तब मन्त्री और सेठ समुद्र के बीच में चलने लगे । अब, वह सेठ मन्त्री के रत्नों से भरे जहाजों को और सुन्दर स्त्री को देखकर लोभ दशा को प्राप्त होकर विचारने लगा कि– इस मन्त्री की स्त्री आदि सारी संपत्ति मेरी ही यदि किसी तरह हो जाय तो मैं संसार में अपना जन्म सफल मानूं । अत्यन्त लोभ में आकर उसने ऐसे दुष्ट कार्य का विचार किया ।

यदुक्तं–

कहा भी है -

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्तिं पणासेइ, लोहो सव्वविणासणो ॥३६॥

(संस्कृत छाया) -

क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति मानो विनय-नाशनः ।
माया मैत्रीं प्रणाशयति लोभः सर्व-विनाशनः ॥३६॥

क्रोध (गुस्सा) प्रेम का विनाश कर देता है, मान विनय का नाश कर देता है, माया (कपट-छल) मित्रता का विनाश कर देती है और लोभ सभी कुछ नाश कर डालता है ॥३६॥

अपि च-

और भी -

यद्दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति देशान्तरं,
गाहन्ते गहनं समुद्रमतनुक्लेशां कृषिं कुर्वते ।
सेवन्ते कृपणं पतिं गजघटासङ्घट्टदुःसंचरं,
सर्पन्ति प्रधनं धनान्धितधियस्तल्लोभविस्फूर्जितम् ॥३७॥

धन के पीछे अंधे होकर जो (लोग) दुर्गम जंगल में भटकते हैं, भयंकर दूर विदेश में जाते हैं, गहरे समुद्र में गोते लगाते हैं, बड़ी कड़ी महेनत से खेती करते हैं, कंजूस स्वामी की सेवा करते हैं और हाथियों के झुंडों की जमघट (भीड़) से नहीं चलने लायक जो युद्ध स्थान, उस में भी जो दौड़ते हैं, वह सब लोभ का ही माहात्म्य है ॥३७॥

पुनरेतादृशैः कुत्सितनरैरचलाप्यशुद्धा भवति तद्वृत्तं दृष्टान्तेन दर्शयति ।

और ऐसे बदनीयत लोगों से धरती भी नापाक हो जाती है, यह बात दृष्टान्त के द्वारा दिखलाते हैं ।

यथा-

जैसे -

हस्ते नरकपालं ते, मदिरामांसभक्षिणि! ।
भानुः पृच्छति मातङ्गीं, किं तोयं दक्षिणे करे? ॥३८॥

भानु भंगिन से पूछता है कि- हे मदिरा-माँस-खानेवाली मातंगी ! तुम्हारे एक हाथ में मनुष्य का मुंड है और दाहिने हाथ में जल क्यों ? ॥३८॥

साऽऽह-

वह बोल उठी -

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च, स्तेनो विश्वासघातकः ।
कदाचिच्चलितो मार्गे, तेनेयं क्षिप्यते छटा ॥३९॥

मित्र का द्रोही, किये हुए उपकार को न मानने वाला, चोर और विश्वास घाती, कहीं इस रास्ते से चला हो, (उससे यह मार्ग अपवित्र हो गया है) इसलिए ये छांटे छांटती हूँ ॥३९॥

तथा च-

और भी -

पासा वेसा अग्गि जल, ठग ठक्कुर सोनार ।
ए दस होय न अप्पणा, दुज्जण सप्प बिलार ॥४०॥

पासा (जुआ), वेश्या, अग्नि, जल, ठग, ठाकुर, सोनार, दुर्जन, साँप और बिलाड़ ए दश अपने नहीं होते अर्थात् इनका

विश्वास कभी नहीं करना चाहिए ।।४०।।

अथ कपटेनैनं चेन्मारयामि तदैतत्सर्वमपि मे स्वाधीनं भवेदिति विचार्य तेन मन्त्रिणा सहाऽधिका प्रीतिर्मण्डिता ।

अब, यदि छल करके इस को मार डालूं तो इसका सब कुछ (धन-स्त्री) मेरे अधीन हो जायगा, ऐसा विचारकर उस मन्त्री के साथ अधिक प्रीति रच डाली ।

यतः- क्योंकि -

ददाति प्रतिगृह्णाति, गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैव, षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥४१॥

देना और लेना, रहस्य की बात कहना और पूछना, एवं खाना और खिलाना यह छः प्रकार का प्रेम का लक्षण है ।।४१।।

तथा चः -

और इसी तरह -

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः,
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः ।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्या तु मित्रापदं,
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ॥४२॥

दूध और पानी की मैत्री दिखलाते है :-

पहले दूध ने अपने में रहे जल (मित्र) को अपने सब गुण दे दिये, फिर दूध में ताप (उफान-जलन) देखकर उस (मित्र) जल ने अपनी आत्मा को अग्नि में हवन कर दिया । फिर अपने मित्र (जल) के संकट (अग्नि में हवन होते) को देखकर, दूध व्याकुल होकर अग्नि

में जाने के लिए तैयार हो गया, फिर उस (मित्र) जल से मिलकर दूध शान्त हो गया। नीतिकार कहते हैं कि- सज्जनों की दोस्ती-मैत्री ऐसी (दूध और पानी की जैसी) होनी चाहिए ।।४२।।

अथैवं कपट-मैत्रीं दर्शयन्नेकदा तेन सागरदत्तेन मन्त्रिणं प्रति प्रोक्तं- पृथक् पृथक् प्रवहणस्थयोरावयोः का प्रीतिः ? अतस्त्वं मम प्रवहणे समागच्छेति धूर्त्तश्रेष्ठिवचनरञ्जितः सरलस्वभावी मन्त्री तद्यानपात्रे गतः। तदा सागरदत्तेनोक्तम्- यद्यावां वाहनप्रान्ते समुपविश्योल्ललज्जलधिकल्लोललीलां पश्यावस्तदा वरं, मन्त्रिणापि तदङ्गीकृतम्। अथावसरं प्राप्य लोभाभिभूतेन पापिना तेन सागरदत्तेन मन्त्री समुद्रान्तः पातितः। मन्त्रिणा तु पततैव पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारस्मरणानुभावेन फलकं लब्धम् ।

अब, एकबार इसी तरह मायावी मित्रता को दिखलाते हुए उस सागरदत्त सेठ ने मन्त्री के प्रति कहा- अलग-अलग जहाजों में रहने से हमारी और आप की मित्रता क्या ? इसलिए तुम मेरे जहाज पर चले आओ, इस तरह की धूर्त्त सेठ की बात से खुश होकर सरल-सीधा (भोला) स्वभाव वाला मन्त्री उसके जहाज में चला गया। तब, सागरदत्त ने कहा- यदि हम दोनों जहाज के किनारे बैठकर उछलते हुए समुद्र की तरङ्गों की लीला को देखें तो सुन्दर है, मन्त्री ने भी उसे स्वीकार कर लिया। अब, अवसर (समय-मौका) पाकर लोभ से ग्रसित उस पापी सागरदत्त ने मन्त्री को समुद्र में गिरा दिया। लेकिन मन्त्री ने गिरते ही पंच परमेष्ठी-नमस्कार के स्मरण करने के प्रभाव (माहात्म्य) से फलक (लकड़े का पटिया) मिल गया।

यतः- क्योंकि -

संग्रामसागरकरीन्द्रभुजङ्गसिंह-
दुर्व्याधिवह्निरिपुबन्धनसंभवानि ।
चौरग्रहभ्रमनिशाचरशाकिनीनां,
नश्यन्ति पञ्चपरमेष्ठिपदैर्भयानि ॥४३॥

लड़ाई, समुद्र, गजराज, साँप, सिंह, महाव्याधि, अग्नि और शत्रु के बन्धन से उत्पन्न भय तथा चोर, ग्रह, भ्रान्ति, राक्षस और शाकिनियों के भय पंच परमेष्ठी पद के स्मरण मात्र से दूर भाग जाते हैं ॥४३॥

ततोऽनन्तरं सर्वाण्यपि प्रवहणानि त्वग्रतो गतानि । अथ स दुष्टो मायावी सागरदत्तोऽतीवोच्चस्वरेण पूत्कारं कुर्वन् कूटशोकं च विधाय विलपन्त्या राजपुत्र्याः पार्श्वे समागत्य मायया विलपन् सन्नुवाच- हे भद्रे चन्द्रवदने ! स मन्त्री तु भृशं दयादाक्षिण्यौदार्य-गाम्भीर्यादिसद्गुणकलितोऽद्वितीयः परोपकारभारधुर्य उत्तम-पुरुषश्चासीत् । अत एव मे मनस्यपि तद्वियोगजं महद्दुःखं भवति। अहमपि त्वदग्रे तद्दुःखं निवेदयितुमशक्योऽस्मि, परं भवितव्यता तु पुण्यशालिनां महापुरुषाणामपि नो दूरीभवति ।

उसके बाद सभी जहाज तो आगे चले गये और वह दुष्ट मायावी सागरदत्त खूब जोर से चिल्लाता हुआ बनावटी शोक रचकर रोती हुई राजपुत्री के पास जाकर कपट करके रोता हुआ बोला- हे चन्द्रमा के समान मुखवाली ! वे मन्त्री तो बड़े ही दया-दाक्षिण्य, उदारता, गंभीरता आदि अच्छे गुणों से युक्त थे, अद्वितीय (बेजोड़-एक ही) परोपकारी और उत्तम पुरुष थे । इसलिए मेरे मन में भी उनके वियोग का दुःख है । मैं भी तुम्हारे सामने उस दुःख को कहने में असमर्थ हूँ, लेकिन- होनहार

पुण्यात्मा महापुरुषों का भी दूर नहीं होता ।

यतः- क्योंकि -

असम्भवं हेममृगस्य जन्म, तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले, धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति॥४४॥

सोने का हरिण का पैदा होना असम्भव है, फिर भी उस असंभवित सुवर्ण-मृग के लिए रामचन्द्रजी ललचा गये । प्रायः संकटकाल के आने पर मनुष्यों की बुद्धि भी मन्द (निकम्मी) हो जाती है ।।४४।। (यह अजैन रामायण का उदाहरण है ।)

तथा च -

और इसी तरह -

न स प्रकारः कोऽप्यस्ति, येनेयं भयितव्यता ।
छायेव निजदेहस्य, लङ्घ्यते जातु जन्तुभिः ॥४५॥

ऐसा कोई भी उपाय नहीं है, जिसके द्वारा यह भवितव्यता (होनहार) टाली जा सके, अपनी देह की छाया की तरह यह भवितव्यता प्राणियों द्वारा कभी भी नहीं लांघी जा सकती ।।४५।।

अपि च-

और भी -

पातालमाविशतु यातु सुरेन्द्रलोक-
मारोहतु क्षितिधराधिपतिं सुमेरुम् ।
मन्त्रौषधैः प्रहरणैश्च करोतु रक्षां,
यद्भावि तद्भवति नात्र विचारहेतुः ॥४६॥

प्राणी पाताल में जाय या स्वर्ग में जाय अथवा सुमेरु पर्वत

पर चढ़ जाय, मंत्रों-औषधियों और हथियारों द्वारा अपनी रक्षा (भले ही) करे, मगर जो होनहार है वह होकर ही रहता है, इसमें तर्क-वितर्क की गुंजाइश नहीं ।।४६।।

अथ समुद्रपतिते तस्मिन्नमात्ये चिन्ताकरणं तव नोचितं, चिन्तया किमपि हस्ते नैव समायाति तत्करणेन च कर्मबन्धोऽपि भवति ।

अब, मन्त्री के समुद्र में गिरजाने पर उसके विषय में तुम्हारा चिन्ता करना ठीक नहीं, क्योंकि शोक करने से कुछ भी हाथ में नहीं आता और शोक करने से कर्म का बन्धन भी तो होता है ।

यदुक्तम्-

कहा भी है -

गते शोको न कर्त्तव्यो, भविष्यं नैव चिन्तयेत् ।
वर्तमानेन योगेन, वर्त्तन्ते हि विचक्षणाः ।।४७।।

गये हुए का, बीते हुए का शोक नहीं करना चाहिए, भविष्य की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि बुद्धिमान लोग भूत-भविष्य को छोड़कर वर्त्तमान के अनुसार ही रहते हैं ।।४७।।

पुनरिमानि सद्गुणान्वितानि वस्तूनि यत्र-यत्र गच्छन्ति तत्रादरमेव लभन्ते, ततस्त्वया कापि चिन्ता न विधेया ।

फिर ये अच्छे गुणों से युक्त वस्तुएँ जहाँ जाती है वहाँ-वहाँ आदर ही पाती है, इसलिए तुम्हें कोई भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए ।

यतः- क्योंकि -

शूराश्च कृतविद्याश्च, रूपवत्यश्च याः स्त्रियः ।

यत्र यत्र हि गच्छन्ति, तत्र तत्र कृतादराः ॥४८॥

शूर, विद्वान् और रूपवती (खूब सूरत) स्त्रियां, ये जहाँ-जहाँ जाते हैं, वहाँ-वहाँ आदर-सम्मान पाते हैं ॥४८॥

हे सुभगे ! तेन यदि त्वं मदुक्तं करिष्यसि तदाहं त्वां निजसर्वकुटुम्बस्वामिनीं करिष्यामि । तस्यैवंविधवचनतस्तया चतुरया ज्ञातम्-नूनमनेनैव दुरात्मना लोभाभिभूतत्वेन कामान्धलेन च मम स्वामी समुद्रमध्ये पातितोऽस्ति ।

हे सुन्दरी ! इसलिए यदि तुम मेरी कही बात करोगी तो मैं तुम को अपने सारे परिवार की मालिकान बना दूंगा । उसकी इस तरह की बात से उस बुद्धिमती ने पक्का जाना, इसी दुष्ट ने लोभ में आकर और काम-वासना में अन्ध होकर मेरे पति को समुद्र में गिरा दिया है ।

यदुक्तम्-

कहा भी है -

न पश्यति हि जात्यन्धः, क्षुधान्धो नैव पश्यति।
न पश्यति मदोन्मत्तो, ह्यर्थी दोषं न पश्यति ॥४९॥

जन्म का अन्धा नहीं देखता, भूख से अन्धा नहीं देखता, मद से मतवाला नहीं देखता और अर्थी (धनी या याचक) दोष को नहीं देखता है ॥४९॥

तथा च -

और इसी तरह -

दिया पश्यति नो घूकः, काको नक्तं न पश्यति ।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो, दियानक्तं न पश्यति ॥५०॥

दिन में उल्लू नहीं देखता, रात में कौआ नहीं देखता और कोई अजब निराला काम (वासना) में अंधा दिन और रात में नहीं देखता है ।।५०।।

अन्यच्च -

और भी -

किमु कुवलयनेत्राः सन्ति नो नाकिनार्य-
स्त्रिदशपतिरहिल्यां तापसीं यत्सिषेवे ।
मनसि तृणकुटीरे दीप्यमाने स्मराग्ना-
वुचितमनुचितं वा वेत्ति कः पण्डितोऽपि ।।५१।।

क्या कमल के समान सुन्दर आंखें वाली स्वर्ग की सुन्दरियाँ नहीं थी । जो इन्द्र ने ऋषिपत्नी (गौतम की स्त्री) अहिल्या से व्यभिचार किया - ठीक है कि घास-फूस की कुटिया समान (निर्बल) मन में काम (वासना) रूपी अग्नि के जल उठने पर कोई पण्डित भी अच्छे या बुरे को नहीं पहचानता ।।५१।।

अपि च-

और भी -

विकलयति कलाकुशलं, तत्त्वविदं पण्डितं विडम्बयति ।
अधरयति धीरपुरुषं, क्षणेन मकरध्वजो देवः ।।५२।।

कामदेव क्षणभर में कला-कुशल व्यक्ति को कला-विहीन कर देता है । तत्त्व के जानकार पण्डित को विडम्बित करता है और धीर पुरुष को भी अधीर बना देता है ।

अथ स्वशीलरक्षार्थं तयोक्तं-संप्रति मम दुःखं वर्तते, अतो

नगरगमनानन्तरं विचिन्तयिष्यते, इति तद्वचसा सागरदत्तः स्वस्थो जातः । इतस्तस्य सागरदत्तश्रेष्ठिनः प्रवहणानि सुवायुना प्रेरितानि गम्भीरपुरनगरे प्राप्तानि । तावत्सौभाग्यसुन्दरी स्वशीलरक्षार्थं प्रवहणादुत्तीर्य निकटस्थश्रीमदृषभदेवप्रासादमध्ये गत्वा तं देवं विधिनाऽऽनम्य कपाटे दत्त्वा च संस्थिता ।

उक्तं च तया- यदि मम शीलप्रभावः स्यात्तर्हि मत्पतिं विना कपाटे ! मोद्घटेताम् । अथ सागरदत्तोऽपि तच्छीलमाहात्म्येन तां तत्रैव विस्मृत्य स्वगृहं गतः ।

इतो धर्मबुद्धिमन्त्री तु नमस्कारस्मरणप्रभावात्फलकं लब्ध्वा क्रमेण समुद्रतटं प्राप्तः । कुतस्तत्फलं शास्त्रेऽप्येवमुक्तम्-

उसके बाद अपनी शील-रक्षा के लिए उसने कहा- अभी मुझे शोक है, इसलिए नगर में जाने के बाद विचार करूँगी, इस तरह की उसकी बात से सागरदत्त सुखी हो गया । इधर सागरदत्त सेठ का जहाज तेज वायु से प्रेरित होकर गम्भीरपुर नगर में पहुँच गया । तब तक सौभाग्य सुन्दरी अपनी शील-रक्षा के लिए जहाज से उतरकर समीप में रहे हुए श्री ऋषभ देव भगवान् के मन्दिर में जाकर उनको विधिपूर्वक वन्दना कर के और किवाड़ लगाकर रह गयी और उसने कहा कि- यदि मेरे शील का (कुछ भी) माहात्म्य है तो मेरे पति के बिना (किसी दूसरे से) ये दोनों कपाट नहीं उघड़े । फिर सागरदत्त भी उसके शील के प्रभाव से उसको वहीं भूल कर अपने घर चला गया । इधर धर्मबुद्धि मन्त्री ने "नवकार-स्मरण" के माहात्म्य से फलक (पट्टी) को पकड़कर धीरे-धीरे समुद्र के किनारे आ गया । क्योंकि- "नवकार-स्मरण" का फल शास्त्र में भी ऐसा ही कहा है । जैसे -

जिणसासणस्स सारो, चउदसपुव्वाण जो समुद्धारो ।
जस्समणे नमुक्कारो, संसारो तस्स किं कुणइ ? ॥५३॥

(संस्कृत छाया)-

जिनशासनस्य सारः चतुर्दशपूर्वाणां यः समुद्धारः ।
यस्य मनसि नमस्कारः संसारः तस्य किं करोति ॥५३॥

पंच परमेष्ठी नमस्कार जिनशासन का सार है, चौदह पूर्वों का समुद्धार है, वह नमस्कार (मंत्र) जिसके मन में हैं, उसको संसार क्या कर सकता है ? ।।५३।।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।

तथा च -

और इसी तरह -

एसो मंगलनिलओ, भयविलओ सव्वसंतिजणओ य ।
नयकारपरममंतो, चिंतिअमत्तो सुहं देइ ॥५४॥

(संस्कृत छाया) -

एष मङ्गल-निलयो भयविलयः सर्वशान्तिजनकश्च ।
नयकार-परम-मन्त्रः चिन्तितमात्रः सुखं दत्ते ॥५४॥

यह महा प्रभाविक नमस्कार परम मंत्र है, मंगल का घर है, संसार से मुक्त करानेवाला है और सभी सुख-शान्ति करनेवाला है, तथा स्मरण मात्र से सुख देता है ।।५४।।

अन्य च्चः -

और भी -

अपुव्यो कप्पतरु, एसो चिंतामणी अपुव्यो अ ।
जो झायइ सय कालं, सो पावइ सियसुहं विउलं ॥५५॥

(संस्कृत छाया) -

अपूर्वः कल्पतरुः एष चिन्तामणिः अपूर्वश्च ।
यो ध्यायति सर्वकालं स प्राप्नोति शिवसुखं विपुलम्॥५५॥

यह नमस्कार मंत्र अपूर्व कल्पवृक्ष है और यह अलौकिक चिन्तामणि है, जो इसका सर्वदा ध्यान करता है, वह परिपूर्ण सुख-शान्ति पाता हैं ॥५५॥

तथा च -

और इसी तरह -

नयकारिक्क अक्खरो, पावं फेडेइ सत्त अयराणं ।
पण्णासं च पएणं, पंचसयाइं समग्गेणं ॥५६॥

(संस्कृत छाया) -

नवकारस्यैकमक्षरं पापं स्फोटयति सप्त सागराणाम् ।
पञ्चाशच्च पदेन पञ्चशतानि समग्रेण ॥५६॥

नवकार का एक अक्षर सात सागरोपम पापों को नष्ट करता है और उसका एक पद पचास सागरोपण पापों को नष्ट करता है तथा सारे पद पांच सौ सागरोपम पापों को नष्ट करता है ॥५६॥

अन्यच्चः -

और भी -

जो गुणइ लक्खमेगं, पूएइ विहिणा य नमुक्कारं ।
तित्थयरनामगोयं, सो बंधइ नत्थि संदेहो ॥५७॥

(संस्कृत छाया) -

यो गणयति लक्षमेकं पूजयति च विधिना नमस्कारम् ।
तीर्थङ्कर-नाम-गोत्रं स बघ्नाति नास्ति सन्देहः ॥५७॥

जो विधिपूर्वक नमस्कार मंत्र को एक लाख जपता है और पूजता है, वह तीर्थंकर (जिनेश्वर) के नाम गोत्र को बांधता है अर्थात् तीर्थंकर होता है, इसमें शक (सन्देह) नहीं ।।५७।।

तथा च-

और भी -

अट्ठेव य अट्ठसया, अट्ठसहस्सं च अट्ठकोडीओ ।
जो गुणइ भत्तिजुत्तो, सो पावइ सासयं ठाणं ॥५८॥

(संस्कृत छाया) -

अष्टैव च अष्ट शतानि अष्ट सहस्रं च अष्ट कोटिः ।
यो गणयति भक्तियुक्तः स प्राप्नोति शाश्वतं स्थानम्॥५८॥

जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक नमस्कार मंत्र को आठ करोड़ आठ हजार, आठ सौ और आठ बार गिनता (जपता) हैं, वह शाश्वत पद (कैवल्यपद-मोक्षपद) को प्राप्त होता है ।।५८।।

अथ सोऽमात्यः समुद्रतटादग्रे भ्रमन्सन् कमनीयतरमेकं नगरं शून्यं दूरतो ददर्श । ततः शनैः शनैर्नगरमध्ये प्रविशन्

सोऽनेकमणिमाणिक्यरत्नविद्रुममौक्तिकस्वर्णादिविविधवस्तुक्रयाणकापूर्णापणश्रेणीं सतोरणां मन्दिरधोरणीं चालोक्य मनसि बाढं चमच्चकार । साहसेनैकाक्येव नगरमध्ये व्रजन् स राजमन्दिरे सप्तमभूमिकोपरि गतः । तत्र खट्वोपर्येकामुष्ट्रिकां तथैव च तत्र स कृष्णश्वेताञ्जनभृतं कूपिकाद्वयं ददर्श । तद् दृष्ट्वा विस्मितः सन् सकौतुकं श्वेताञ्जनेनोष्ट्रिकाया नयनेऽञ्जनं चकार, तत्प्रभावाच्च सा दिव्यरूपा मानुषी जज्ञे । तत्क्षणमेव तस्मै तयाऽऽसनं दत्तं, ततो मन्त्रिणा सा पृष्टा- अयि चन्द्रवदने ! का त्वं ? कस्य च सुता ? कथमेवंविधा ते दशा ? किमिदं नगरं ? कुतः कारणाच्च शून्यं वर्तते ? इति श्रुत्वा सा कन्या निजनेत्राभ्यामश्रुपातं कुर्वती प्राह- भो नरपुङ्गव ! त्वमितः शीघ्रं याहि याहि, यतोऽत्रैका राक्षसी विद्यते, सा यदि द्रक्ष्यति तर्हि त्वां भक्षयिष्यति । तदा मन्त्रिणा पुनरपि पृष्टा- हे सुलोचने ! सा का राक्षसी इत्यादि समस्तं वृत्तान्तं त्वं स्पष्टतरं कथय। साऽऽह- हे पुरुषोत्तम ! त्वं शृणु-अस्य नगरस्य स्वामी भीमसेनो राजाऽहं च तत्पुत्री रत्नसुन्दरी- नाम्नी ! स मे पिता तु तापसभक्त आसीत् । एकदा कश्चित्तपस्वी मासोपवासी अस्मिन्नगरे समागतवान्, स च मत्पित्रा भोजनाय निमन्त्रितः, अहं च राज्ञा तस्य परिवेषणायाऽऽदिष्टा । ततस्स मद्रूपं दृष्ट्वा चुक्षोभ, रात्रौ च मत्समीपे तस्करवृत्त्या समागच्छन् स प्राहरिकैर्धृत्वा बद्धः, प्रातश्च नृपस्य समर्पितः, राज्ञा च स शूल्यामारोपितः, तेनार्त्तध्यानेन स मृत्वा राक्षसी बभूव। तया चेदं नगरमुद्वासितं विधाय पूर्ववैरेण राजापि व्यापादितः, तद् दृष्ट्वा नगरलोकास्सर्वेऽपि भयभ्रान्ताः पलायनं चक्रुरिति

नगरं शून्यं जातम् । पूर्वभवमहामोहभावतोऽहं तयैवं रक्षिता, कृष्णाञ्जनेनोष्ट्री-रूपेण स्थापिता, प्रतिदिनं च सा राक्षसी मत्सत्कारशुश्रूषा-करणार्थमत्र समागच्छति, अतस्त्वं प्रच्छन्नो भव, यतः सा राक्षसी संप्रत्येव समागमिष्यति । पुनरेकदा सा राक्षसी मया पृष्टा- हे मातः ! अहमत्रारण्यसदृशे सौधेऽप्येकाकिनी किं करोमि ? । अतस्त्वं मां मारय तर्हि सुष्ठुतरं भवेत् । ततस्तयोक्तं- यदि योग्यं वरमहं लप्स्ये तदा तस्मै त्वां दास्यामि, हे सत्पुरुष ! पूर्वमहमेवं तया निगदितास्मि । अथ साम्प्रतं तदागमनवेलास्ति सा च कदाचिन्मां तुभ्यं दद्यात्तदा त्वयास्या राक्षस्याः पार्श्वा-दाकाशगामिनी विद्या, सप्रभावा खट्वा, महार्घ्यदिव्यरत्नग्रन्थी, सप्रभावे श्वेतरक्तकर-वीरकम्बिके चैतानि वस्तूनि मार्गणीयानि करमोचनावसरे, इति तदुक्तसंकेतं गृहीत्वा पुनस्तां कृष्णाञ्जने-नोष्ट्रिकां विधाय मन्त्री प्रच्छन्नः स्थितः । इतश्च मनुष्यं भक्षयामीति वदन्ती राक्षसी समागता, तया च श्वेताञ्जनेन सोष्ट्रिका कन्या चक्रे, ततस्तया राक्षस्या साकं वार्तां कुर्वत्या स्वयोग्यो वरो याचितः । तदा राक्षस्योक्तम्-क्वापि तव योग्यं वरं दृष्ट्वा तस्मै त्वां दास्यामि ।

अनन्तर उस मन्त्री ने समुद्र से आगे घूमते हुए एक परम रमणीय नगर को दूर से देखा । फिर धीरे-धीरे नगर में प्रवेश करता हुआ वह अनेक मणि, माणिक्य, रत्न, मूंगा, मोती और सुवर्ण आदि अनेक तरह के विक्री के माल से परिपूर्ण दुकान की कतारों को और चंदोवा सहित मंदिर की कतारों को देखकर मन में अत्यन्त आश्चर्य से युक्त हुआ । साहसी मन्त्री अकेला ही नगर के बीच में घूमता हुआ राजमन्दिर के सप्तभूमि ऊपर

चला गया। वहाँ, खाट के ऊपर एक ऊँटनी को और उसी तरह वहाँ वह श्याम और शुक्ल अंजन (काजल) से भरी दो कूपिकाओं को देखा। उसको देखकर अचंभे में पड़ा हुआ विनोद के साथ शुक्ल अंजन से ऊँटनी के आखों में अंजन कर दिया। उस अंजन के प्रभाव से वह परम सुन्दरी नारी हो गयी। उस समय ही उस सुन्दरी ने उस मन्त्री को (बैठने के लिए) आसन दिया। तब मन्त्री ने उसको पूछा- हे चन्द्रमा समान मुखवाली सुन्दरि ! तुम कौन हो ? किसकी लड़की हो ? तुम्हारी ऐसी दशा क्यों है ? यह नगर क्या है ? और किस कारण यह शून्य है ? यह सुनकर वह कन्या अपनी आखों से आँसू बहाती हुई बोली- हे पुरुष श्रेष्ठ! तुम यहाँ से शीघ्र चले जाओ, क्योंकि- यहाँ एक राक्षसी रहती है, वह यदि तुम को देख लेगी तो खा जायगी। तब मन्त्री ने फिर पूछा- हे सुन्दरी ! वह कौन राक्षसी है ? उसके बारे में सारी बातें साफ-साफ बतलाओ। वह बोलने लगी- हे पुरुषोत्तम ! सुनो- इस नगर का स्वामी भीमसेन नाम का राजा था और मैं उसकी लड़की रत्नसुन्दरी नाम की हूँ और वह मेरा पिता तापस भक्त था। एक समय एक मास का उपवास वाला कोई तपस्वी इस नगर में आया। मेरे पिता ने उसे भोजन करने के लिए कहा, और मुझे राजा ने भोजन परोसने के लिए कहा। तब वह मेरा रूप देखकर व्याकूल हो गया और रात में मेरे पास चोर की तरह आते हुए उसको पहरेदारों ने पकड़कर बांध दिया फिर प्रातः काल में राजा के पास ले गया और राजा ने उस (तपस्वी) को शूली (फांसी) पर लटका दिया, उस कारण आर्त्तध्यान से वह मरकर राक्षसी हो गयी और उसने ही इस नगर को उजड़कर के पूर्व की शत्रूता से राजा को भी मार डाला, यह देखकर नगर के सारे लोग भी डरकर भाग गये, इस कारण यह नगर शून्य (सूनसान) हो गया। पूर्व जन्म के (मेरे प्रति) महा मोह के कारण से मुझे उसने ऐसी

रखी है । काले अंजन से ऊँटनी करके रख छोड़ी है और प्रति दिन वह राक्षसी मेरा आदर-सत्कार करने के लिए यहाँ आती है, इसलिए, तुम छिप जाओ, क्योंकि वह राक्षसी अभी आयगी । फिर एक समय मैंने उस राक्षसी को पूछा- हे मां ! मैं वन समान इस महल में भी अकेली क्या करूँ? इसलिए तुम यदि मुझे मार डालती तो बहुत अच्छा होता । तब उसने कहा- यदि तुम्हारे योग्य वर मिलेगा, तो तुमको उसे दे दूंगी । हे सत्पुरुष ! उसने पहले मुझ से ऐसा कहा है । अब, अभी उसके आने का समय है, और वह शायद मुझे तुम को दे दे, तो तुम इस राक्षसी के पास से आकाश गामिनी विद्या, प्रभाववाली खाट, बेशकीमती दिव्य रत्नों की गांठ और प्रभाववाली सफेद-लाल करवीर की कंबिका (चाबुक) इतनी चीजें कंकण खोलने के समय मांगना । इस तरह उसके कथन के संकेत (इशारा) को (मन में) रखकर फिर उसको काले अंजन से ऊँटनी बनाकर मन्त्री छिपकर बैठ गया । इधर मनुष्य को खाती हूँ, ऐसी बोलती हुई वह राक्षसी आ गयी और उसने सफेद अंजन से ऊँटनी को लड़की बना दी । फिर उस लड़की ने उस राक्षसी से बातचीत करती हुई अपने योग्य वर (भावी पति) की याचना की । तब राक्षसी ने कहा- कहीं भी तुम्हारे लायक वर देखकर उसको तुम्हें दे दूंगी ।

यदुक्तं-

कहा भी है -

मूर्खनिर्धनदूरस्थ-शूरमोक्षाभिलाषिणाम् ।
त्रिगुणाधिकवर्षाणां, चापि देया न कन्यका ॥५९॥

मूर्ख को, दरिद्र को, दूर रहने वालों को, शूर को, मोक्ष के अभिलाषी को और तीन गुना से अधिक उमर वालों को लड़की नहीं

देनी चाहिए ।।५९।।

एवं च -

और इसी तरह -

बधिरक्लीबमूकानां, खञ्जान्धजडचेतसाम् ।
सहसा घातकर्तॄणां, नूनं देया न कन्यका ।।६०।।

बहरें को, नपुंसक को, गूंगे को, लंगड़े को, अंध को और जड़ बुद्धि वाले को और बिना विचारे घात करने वाले को, लड़की नहीं देनी चाहिए।।६०।।

अन्यच्चापि -

और भी -

कुलजातिविहीनानां, पितृमातृवियोगिनाम् ।
गेहिनीपुत्रयुक्तानां, नूनं देया न कन्यका ।।६१।।

नीच कुल और नीच जाति वालों को, बिना मां-बाप वालों को, स्त्री और पुत्रों से युक्त व्यक्ति को निश्चय करके कन्या नहीं देनी चाहिए ।।६१।।

अपरं च -

और भी -

सदैवोत्पन्नभोक्तॄणा-मालस्यवशवर्त्तिनाम् ।
बहुवैराग्ययुक्तानां, नूनं देया न कन्यका ।।६२।।

सदैव रसना लोलुपी को, आलसी को, अधिक विरागी को हरगिज कन्या नहीं देनी चाहिए ।।६२।।

अतः सुकुलजात्युत्पन्नसत्पितृभ्यामुभयलोकशुभेच्छयैतान् गुणान् विलोक्यैव सुता प्रदेया ।

इसलिए सुन्दर कुल और जाति से उत्पन्न अच्छे मां-बाप से युक्त दोनों लोक की मंगल (कल्याण) कामना से इन (निम्न लिखित) गुणों को देखकर ही लड़की देनी चाहिए ।

यथा- जैसे -

कुलं च शीलं च सनाथता च,
विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च ।
वरे गुणाः सप्त विलोकनीया-
स्ततःपरं भाग्यवशा हि कन्या ॥६३॥

कुल और आचरण, सनाथता (माता-पिता-भाई आदि से युक्त), विद्या, धन, शरीर और वय (उमर) ये सातों गुण वर में देखने चाहिए । इसके बाद अपने भाग्य से ही लड़की सुखवाली या दुःखवाली होती है ॥६३॥

इति तद्वचो निशम्य कन्यकयोक्तं-अहं स्वयमेव स्वयोग्यं वरं दर्शयामि, राक्षस्योक्तं-तर्ह्यधुनैव त्वां तस्मै ददामि । ततः पूर्वसङ्केततस्तदैव मन्त्री प्रकटीबभूव, राक्षस्यापि तया सह गान्धर्वविवाहेन स परिणायितः । करमोचनावसरे च खट्वादिवस्तुचतुष्टयं तेन याचितं, तयापि च तत्सर्वं तस्मै समर्पितम् । अथैकदा राक्षसी क्रीडाद्यर्थमन्यत्र जगाम, तदा तया कन्यया मन्त्र्यूचे- हे प्राणवल्लभ ! स्वामिन् ! इदानीमावां स्वस्थानं गच्छावस्तदा वरम् । मन्त्रिणोक्तं कथं गम्यते स्वपुरादि-मार्गाऽपरिज्ञानात् ? । ततस्तयोक्तं साम्प्रतमावाभ्यां रत्नग्रन्थिद्वयं

गृहीत्वा खट्वायां चोपविश्य श्वेतकरवीरकम्ब्या साऽऽहन्तव्या । ततः सा चिन्तिते पुरे नेष्यति, यदि च कदाचिद्राक्षसी पृष्टे समागच्छेत्तदा त्वया सा रक्तकरवीरकम्ब्या हन्तव्या, ततः सा निष्प्रभावा सती पश्चाद्यास्यति । अथैवं परस्परं विमृश्य चेलतुः, तयोश्चलनानन्तरं सा राक्षसी तत्र समागता स्वस्थानं च शून्यं दृष्ट्वोवाच- हा ! मुषितास्मीति चिन्तयन्ती सा तयोः पृष्टे धाविता मिलिता च। मन्त्रिणा रक्तकरवीरकम्ब्या निहता सती पश्चान्निष्प्रभावा स्वस्थानं जगाम । ततो यत्र गम्भीरपुरपत्तने तस्य द्वे प्राक्तने भार्ये आस्तां, तस्मिन्नेव पुरे उद्यानवनमध्ये खट्वाप्रभावान्मन्त्री समागात्। तत्रैव रमणीयतरवनमध्ये स्वस्त्रीं रत्नसुन्दरीं बहिर्मुक्त्वा स मन्त्री निवासस्थानविलोकनार्थं नगरान्तर्गतः । इतस्तन्नगर-तस्तत्रैका कपटकलाकलापकुशला वेश्या समागता, तया ताम-तिचारुरूपां मन्त्रिस्त्रीं दृष्ट्वा चित्ते चिन्तयामासकिमियं स्वर्गाद्भ्रष्टात्र समागता स्वर्वधूः ? वा मन्त्रसाधनसोद्यमा विद्याधरी? विषोद्विग्ना ह्यत्रागता किं वा पातालकन्येयं ? रतिरिन्द्राणी पार्वती हरिप्रिया वेति ? पुनस्तया ध्यातम्-यद्येषाऽस्मद्गृहे समागच्छेत्तर्हि मम महत्तरं भाग्यं फलेत्, पुनरङ्गणे गजगामिनी जगदानन्ददायिनी चारुकल्पवल्लीवाऽऽरोपिता भवेत् । अतः केनाप्युपायेनैषा ग्राह्येति विमृश्य तत्पार्श्वे समागत्य सा तां प्रति वदति स्म ।

इस तरह उसकी बात सुनकर लड़की ने कहा- मैं स्वयं ही अपने योग्य वर को दिखला देती हूँ, राक्षसी ने कहा- तो अभी तुम को उसे दे दूं। फिर पूर्व-संकेत से उसी समय मन्त्री प्रकट हो गया, राक्षसी ने भी उस लड़की के साथ गांधर्व विवाह से उस मन्त्री का विवाह करा दिया । और

कंकण खोलने के समय में खाट आदि (पूर्वोक्त) चार चीजें मन्त्री ने राक्षसी से मांगीं, राक्षसी ने मन्त्री को वे चारों चीजें दे दी। फिर एक समय राक्षसी क्रीड़ा आदि करने के लिए दूसरी जगह गयी, तब उस लड़की ने मन्त्री को कहा - हे प्राणनाथ ! स्वामी ! इस समय यदि हम दोनों अपने (आपके) स्थान को चलें तो अच्छा है। मन्त्री ने कहा- अपने नगर के मार्ग को नहीं जानने से किस तरह जाया जाय। तब उस (लड़की) ने कहा- अभी हम दोनों रत्न की दोनों गठरियों को लेकर और खाटपर बैठकर श्वेत करवीर की चाबुक से खाट को मारेंगे, तब वह जहाँ जाना है वहाँ ले जायगा। अगर चेत् कहीं राक्षसी हमारे पीछे आयगी तो तुम उसे लाल करवीर की चाबुक से मारना, फिर वह निस्तेज (निर्बल) होकर पीछे लोट जायगी, इस तरह दोनों आपस में विचार करके चल दिये। दोनों के वहाँ से चल देने के बाद वह राक्षसी वहाँ आयी, अपने स्थान को सुन-सान देखकर बोली- हाय ! मैं चुराई गयी ! इस तरह विचार करती हुई वह उन दोनों के पीछे दौड़ पड़ी और उनसे मिल गयी। मन्त्री ने लाल करवीर की चाबुक से उसे मारा पीछे निस्तेज होकर वह अपने स्थान को लौट गयी। फिर जिस गंभीरपुर नगर में उसकी पहली दो स्त्रियाँ थी, उसी नगर के उद्यान वन के बीच में खाट के प्रभाव से मन्त्री आ गया। वहीं अत्यन्त सुन्दर वन के बीच में अपनी स्त्री रत्नसुन्दरी को बाहर छोड़कर वह मन्त्री रहने की जगह देखने के लिए नगर में गया। इधर उस नगर से वहाँ एक कपट कला में प्रवीण वेश्या आयी। उसने अत्यन्त सुन्दर रूप वाली उस मन्त्री की स्त्री को देखकर मन में विचार किया। क्या यह स्वर्ग से रूठकर यहाँ स्वर्ग-वधू (अप्सरा) तो नहीं आ गयी ? या मंत्र साधन करने के लिए विद्याधरी तो नहीं है ? अथवा विष से उद्विग्न (व्याकुल होकर-घबड़ाकर) नाग लोक की कन्या तो यहाँ नहीं आ गयी ? या रति

है? या इन्द्राणी है ? किंवा शिव की पत्नी पार्वती तो नहीं है ? फिर उस ने विचार किया- यदि यह मेरे मकान में आ जाय तो मेरा बहुत बड़ा भाग्य फले और मेरे आंगन में हथिनी की जैसी चालवाली, लोक को आनन्द देनेवाली सुन्दर कल्पलता की तरह आरोपित हो (बन) जाय । इसलिए किसी भी उपाय से इसको लेना चाहिए, ऐसा सोचकर उसके पास आकर वह वेश्या उस (रत्नसुन्दरी) को कहने लगी ।

यथा- जैसे -

भद्रे! कासि सुराङ्गना किमथवा विद्याधरी किन्नरी,
किं या नागकुमारिका बुधसुता किं या महेशप्रिया ? ।
पौलोमी किमु चक्रवर्तिदयिता तीर्थाधिपोल्लङ्घनात् ?,
शापात्क्रुद्धमुनीश्वरस्य वचसा त्वं कानने दृश्यसे ॥६४॥

हे भद्रे ! तुम कौन हो ? देवी हो, या विद्याधरी हो अथवा किन्नरी हो ? किंवा पाताल कन्या हो या देव कन्या हो, अथवा महादेव की पत्नी पार्वती हो ? या इन्द्राणी हो ? किंवा चक्रवर्ती की पत्नी हो? जो किसी क्रोधित मुनीश्वर के वचन से, शाप से, तीर्थाधिप के उल्लंघन से तुम वन में दीख रही हो ।।६४।।

अथ वत्से ! त्वं सत्यं सत्यं ब्रूहि, कस्य पत्नी, कुतश्चागता, क्व ते भर्तेति पृष्टा सती सा तदग्रे यथास्थितं निजस्वरूपं जगाद । तदा कपटपाटवोपेतया वेश्यया कथितं तर्हि त्वं मद्भ्रातृ-जायासि कथमत्र स्थिता ? मन्त्री तु मदालयं प्राप्तस्तेनैवाहं तवाह्वानार्थं प्रेषितास्मि, ततस्त्वमेहि मया साकं मे मन्दिरे, ततः सा सरलस्वभावतया तन्मधुरवाक्यप्रपञ्चवञ्चिता तदैव तद्गृहं गता ।

हे भद्रे ! अब तुम सच-सच कहो कि- किसकी स्त्री हो और कहाँ से आयी हो और तुम्हारा पति कहाँ है ? ऐसा पूछने पर वह (रत्नसुन्दरी) उस (वेश्या) के सामने अपना संपूर्ण परिचय कह दिया । तब कपट की पण्डिताई से युक्त होकर वेश्या ने कहा कि - तुम तो मेरे भाई की स्त्री हो, यहाँ क्यों ठहरी हो ? मन्त्री तो मेरे घर पर पहुँच गया है, इसीलिए उसने तुम्हें बुलाने के लिए मुझे भेजा है, अतः तुम मेरे साथ मेरे घर चलो । तब वह सीधे-सादे स्वभाव वाली उसकी मीठी बातों के प्रपंच से ठगी हुई उसी समय उसके घर चली गयी ।

यतः- क्योंकि -

मायया हि महापापै-र्वञ्च्यते सरलो जनः ।
मत्स्यः समुद्रमध्यस्थो, धीवरैर्बध्यते यथा ॥६५॥

सीधा-सादा आदमी माया के द्वारा बड़े मायावियों से ठगा जाता है, जैसे समुद्र के बीच में रही हुई मछली मल्लाहों के द्वारा (पकड़कर) मारी जाती है ।।६५।।

तथा च-

और भी -

द्यूतकारे नटे धूर्त्ते, वेश्यायां च विशेषतः ।
मायां कृत्वा निजायासं, स्थितास्ति खलु शाश्वती ॥६६॥

जुआरी में, नट में, ठग में और विशेष कर के वेश्या में यह माया अपना वास कर के रही हुई है, नहीं तो कब कि कब गायब हो गयी होती ।।६६।।

अतः सर्वत्र पुरुषैः सरलस्वभावो नैव रक्षणीयः, किन्तु

यथावसरं यथास्थानमेव सर्वत्र सुबुद्धिचातुर्यं करणीयम् ।

इसलिए, पुरुषों को सभी जगह सरल स्वभाव होकर नहीं रहना चाहिए, किन्तु देश-काल के अनुसार ही सब जगह खूब होशियारी से काम करना चाहिए ।

यतः- क्योंकि -

नात्यन्तं सरलैर्भाव्यं, गत्या पश्य वनस्थलीम् ।
सरलास्तत्र छिद्यन्ते, कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥६७॥

अधिक सीधापन अच्छा नहीं, जाकर वनस्थली को देखो, वहाँ सीधे झाड़ काटे जाते हैं और टेढ़े-मेढ़े नहीं काटे जाते हैं ॥६७॥

तथा च -

और इसी तरह -

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने,
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जयम् ।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता,
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः॥६८॥

अपने कुटुम्ब वर्ग में चतुराई, दूसरे लोगों में दया, दुष्टों के प्रति शठता, सज्जनों में प्रेम, राजाओं में नीति, विद्वान् वर्गों में सरलता, शत्रुओं में वीरता, गुरुजनों में क्षमा और स्त्री वर्गों में चालाकी, ये बातें जिन पुरुषों में पायी जाती हैं वे ही कला-कुशल है और उन्हीं में लोगों की स्थिति है ॥६८॥

अथ नानादेशान्तरायातलोकैर्लीलाविलासकलाकुशलैः कामिनीनयनानन्ददायकैरभिभृतं मनोज्ञतोरणैः पञ्चशतैर्वातायनैर्युतं

धन्याभिः शतपञ्चभिर्वरकन्याभिः पूरितमेवंविधं महासौधममरागार-सन्निभं गीतनृत्यादिध्वनिगुञ्जितं रत्नसुन्दर्यैक्षत, तया गणिकया च सा निजावाससप्तमभूमौ स्थापिता । अथ सा वेश्यां प्रति पृच्छति स्म-क्व मे भर्त्ता ? सा प्राह बहवोऽत्र ते भर्तारः समायास्यन्ति। ये राजानो राजपुत्रा मण्डलाधिपाः सुश्रेष्ठिनः सार्थवाहाश्च ते त्वत्किङ्करा भविष्यन्ति । छत्रचामरवादित्रसुखासनहयगजान् तवाज्ञावशवर्तिनो राजान आनयिष्यन्ति । मनोज्ञतरा नवनवास्तेऽत्र सत्कामभोगा भविष्यन्ति, हे मृगेक्षणे ! किं बहुना ? तव पदाम्बुजे नवनवा नराः सदैव पतिष्यन्ति, त्वया नेत्रविभागेन दृष्टाः सुरासुरसेविता मुनयोऽपि वशवर्त्तिनो भविष्यन्ति । हे सुभगे ! किं बहूक्तेन ? नरत्वेऽपि मनसा चिन्तितं सर्वं देववत्ते भविष्यति, इत्याद्युक्त्वा तया सर्वोऽपि स्वकुलाचारः प्रदर्शितः। तदा मन्त्रिपत्न्या चिन्तितम्-ऊ ! एतत्तु गणिकालयं, हा ! मयाथास्मिन् वेश्यागृहे पतिं विना सर्वोत्तमं भूषणरूपं स्वशीलं कथं रक्षणीयम् ? ।

इसके बाद अनेक दूसरे देशों से आये हुए लीला, विलास (नाटक-खेल कौतुक) कला में कुशल और कामिनियों के नयनों को आनन्द देनेवाले लोगों से भरपूर, पांच सौ सुन्दर तोरण और झरोखों से युक्त और अच्छी पांच सौ कन्याओं से पूर्ण, देव-भवन के समान, गान और नाच आदि के शब्दों से गूँजित एक बड़े महल को रत्नसुन्दरी ने देखा। फिर उस वेश्या ने रत्नसुन्दरी को अपने आवास की सातमी भूमि में रख छोड़ी । अनन्तर रत्नसुन्दरी ने वेश्या को पूछा- मेरा पति कहाँ है ? वेश्या बोली- यहाँ बहुतेरे तुम्हारे पति आ जायेंगे । जो राजा हैं, राजकुमार हैं, मण्डलाधीश हैं, बड़े सेठ हैं और व्यापारी हैं, वे तुम्हारे सेवक (नौकर)

हो जायेंगे । तुम्हारी आज्ञाओं के अधीन होकर राजा लोग छत्र, चामर, बाजे, बिस्तर, हाथी और घोड़े लायेंगे । नित-नये अत्यन्त सुन्दर तुम्हारी इच्छा के अनुसार भोग-विलास की चीजें हो जायगी । हे सुन्दरी ! अधिक क्या ? तुम्हारे चरण कमल पर नये-नये लोग सर्वदा ही गिरेंगे । तुम्हारे नयन-कटाक्ष से देखे गये सुर-असुर से सेवित मुनि लोग भी तुम्हारे वश में हो जायेंगे । हे सुन्दरि ! अधिक कहने से क्या ? मनुष्य होने पर तुम अपने मन में जो कुछ विचारोगी वह सब तुमको देवता की तरह हो जायगा, इत्यादि कहकर उस वेश्या ने अपना कुल का सारा आचरण बतला दिया । तब मन्त्री की स्त्री ने विचार किया- अरे ! यह तो वेश्या का घर है, हाय ! अब मुझे इस वेश्या के घर में पति के बिना सब से उत्तम अलंकार रूप अपना शील की किस तरह रक्षा करनी चाहिए ?

तदुक्तं सत्फलं-

शील का फल कहा है कि -

शीलं नाम नृणां कुलोन्नतिकरं शीलं परं भूषणं,
शीलं ह्यप्रतिपातियित्तमनघं शीलं सुगत्यायहम् ।
शीलं दुर्गतिनाशनं सुयिपुलं शीलं यशः पायनं,
शीलं निर्यृतिहेत्यनन्तसुखदं शीलं तु कल्पद्रुमः ॥६९॥

शील मनुष्यों के कुल की उन्नति करनेवाला है, शील उत्कृष्ट अलंकार है, शील निश्चय करके संरक्षण करनेवाला धन है, शील निष्पाप है, अच्छी गति को देनेवाला है, शील दुःख-दरिद्रता का नाश करनेवाला है, शील महान् पवित्र यश है, शील संसार से मुक्ति का कारण है, अनन्त सुख देनेवाला है और शील कल्पवृक्ष है।।६९।।

शीलं सर्यगुणौघमस्तकमणिः शीलं यिपद्रक्षणं,

शीलं भूषणमुज्ज्वलं मुनिजनैः शीलं समासेवितम् ।
दुर्वाराधिकदुःखवह्निशमने प्रावृट्पयोदाधिकं,
शीलं सुर्वसुखैककारणमतः कस्याऽस्ति नो सम्मतम्? ।।७०।।

शील सारे गुणों के समुदाय रूपी मस्तक में मणि समान है, शील विपत्ति से रक्षा करने वाला है, शील सुन्दर आभूषण है, शील को मुनि लोग अच्छी तरह धारण करते हैं । कठिन से हटाने लायक जो अधिक दुःख रूपी अग्नि उसको शमन करने में वर्षा काल के मेघ से भी अधिक शक्तिशाली शील है, शील सब सुखों का एक कारण है, इसलिए शील को धारण करना किस का अभिमत नहीं ? अर्थात् सभी की राय है ।।७०।।

अपि च-

और भी -

व्याघ्रव्यालजलानलादिविपदस्तेषां व्रजन्ति क्षयं,
कल्याणानि समुल्लसन्ति विबुधाः सान्निध्यमध्यासते ।
कीर्त्तिः स्फूर्त्तिमियर्त्ति यात्युपचयं धर्मः प्रणश्यत्यघं,
स्वर्निर्वाणसुखानि संनिदधते ये शीलमाबिभ्रते ।।७१।।

जो लोग शील को धारण करते हैं, उनके व्याघ्र, सर्प, जल, अग्नि आदि की विपत्तियाँ नाश हो जाती है, कल्याण होता है और देवता पास में आते हैं, कीर्त्ति फैलती है और धर्म बढ़ता है, पाप का विनाश होता है, स्वर्ग और मोक्ष के सुख सामने आते हैं ।।७१।।

अथ तया स्वशीलभङ्गभयात्कञ्चिदपवरकं प्रविश्य कपाटे दत्ते, तच्छीलप्रभावाच्च ते कथमपि नैव समुद्घटिते । अथ

प्राक्परिणीता मन्त्रिपत्नी सा विनयसुन्दर्यपि श्रीदत्तकुम्भकार-गृहस्थिता, केनापि कामिना राजपुत्रेण हास्यादिना पराभूता सती, स्वशीलरक्षायै साध्वी तथैव कपाटे पिधाय स्थिता-ऽऽसीत्।इतोऽयं व्यतिकरो राजलोकसकाशाद्राज्ञा ज्ञातः, ततः स्वनगरानर्थभीतेन राज्ञा पटहोद्घोषणा कारिता-यः कश्चिदे-तत्कपाटत्रयमुद्घाटयिष्यति, स्त्रीत्रयं च वादयिष्यति, तस्य राजा स्वराज्यार्द्धं राजकन्यां च दास्यति ।

इतः स मन्त्री निजनिवासार्थं स्थानं विलोक्य भोजनं च गृहीत्वा यावत्तत्रोपवने समागतस्तावत्तत्र तेन निजस्त्री रत्नसुन्दरी नावलोकिता । तदेतस्ततस्तद्वने विलोकितापि परं क्वापि सा न लब्धेति विह्वलः सन् स नगरमध्ये परिबभ्राम ।

इतस्तेन सा पटहोद्घोषणा श्रुता मनसि सर्वं स्वव्यतिकरं च विज्ञाय पटहं स्पृष्ट्वा बहुजनपरिवृतो मन्त्री कुम्भकारगृहे समागतः । तत्र च द्वारपार्श्वे समागत्य तेन श्रीपुरनगरनिर्गम-नकालादारभ्य गम्भीरपुरप्राप्तिविनयसुन्दरीदेवकुलमोचनावधिः सर्वोऽपि वृत्तान्तो निगदितः । तन्निशम्य शीघ्रं विनयसुन्दर्या कपाटे समुद्घाटिते, तयोपलक्षितश्च मन्त्री । ततः श्रीयुगादिदेव-प्रासादे समागत्य प्रवहणचलनकालादारभ्य समुद्रान्तःपतनं यावत्तेन सम्बन्धः प्रोक्तः । तदा सौभाग्यसुन्दर्यपि स्वपतिमुपलक्ष्य कपाटे समुद्घाटिते । ततो मन्त्री गणिकाया गृहे समागत्य सफलकप्राप्ति-समुद्रतरणादारभ्य तद्गम्भीरपुरप्राप्तिनिवासस्थानविलोकनभोजन-ग्रहणनिमित्तं नगरमध्यागमनं यावद् वृत्तान्तमुक्तवान् । तदा तया तृतीयया रत्नसुन्दर्यापि तथैव मन्त्रिणमुपलक्ष्य कपाटे समुद्घाटिते।

ततस्तास्तिस्रोऽपि भार्याः स्वस्ववृत्तान्तं मन्त्रिणे कथयामासुः । ततः प्रमुदितेन राज्ञापि निजराज्यार्द्धं स्वकन्यां शीलसुन्दरीं च मन्त्रिणे दत्त्वा साश्चर्यं पृष्टम्-भवानब्धौ कथं निपतित इति ? मया तु तवातिचातुर्य्यं विलोक्यते, अतोऽहमेवं संभावयामि केनचिदन्येन कपटिदुष्टेन निपातितो भविष्यतीति । अथ त्वं स्वं यथाभूतं वृत्तं तथा निगद, तन्निशम्याहं तद्योग्यं दण्डं दास्यामि, येनाग्रे कोऽप्यन्यो दुष्टात्मैवंविधमकार्यं न कुर्यात् । तादृशानि राज्ञो वचनान्याकर्ण्य करुणापरो मन्त्री किञ्चिन्मौनमवलम्ब्योक्त-वान्, हे राजन् ! अहं स्वात्मनोऽसावधानत्वेनैव निपतितः । यत उक्तं महतां कोऽप्यशुभं कुर्यात्तथापि ते तु तस्य शुभमेव कुर्वन्ति।

इसके बाद उसने अपना शील (इज्जत) खराब होने के डर से किसी अन्दर के मकान में घूसकर किवाड़ लगा दिये और उसके चरित्र के माहात्म्य से वे किवाड़ किसी तरह भी नहीं उघड़ सके । अनन्तर पहले व्याही हुई मन्त्री की स्त्री वह विनयसुन्दरी भी श्रीदत्त कुंभार के घर में रही हुई किसी कामी राजकुमार के द्वारा हँसी-मजाक आदि से परेशान होकर अपना शील (इज्जत) रक्षा के लिए वह पतिव्रता उसी तरह कपाट लगाकर बैठ गयी । इधर यह समाचार राजा ने अपने दूतों के द्वारा सुना, तब अपने नगर में अनर्थ होने के डर से ढिढ़ोरा पिटवाया कि- जो कोई इन तीनों किवाड़ों को खोलेगा और तीनों स्त्रियों को बुलायगा, उसको राजा अपना आधा राज्य और अपनी लड़की देगा । इधर वह मन्त्री अपने रहने के लिए जगह को देखकर और भोजन लेकर जब तक उस बगीचा में गया तब तक उसने वहाँ अपनी स्त्री रत्नसुन्दरी नहीं देखी । उस समय उस वन में इधर उधर ढूढ़ने पर भी जब वह कहीं नहीं मिली, तब व्याकुल होकर वह नगर में घूमने लगा । इधर उसने पटह की उद्घोषणा (ढिढ़ोरा)

सुनी और मन में सब अपनी ही बात समझकर पटह को छूकर बहुत लोगों के साथ होकर मन्त्री कुंभार के घर में आ गया । वहाँ दरवाजे के पास आकर मन्त्री ने श्रीपुरनगर से निकल ने के समय से लेकर गंभीरपुर में पहुँचना विनयसुन्दरी का देवकुल में छोड़ने तक सभी समाचार कह सुनाया। यह सुनकर विनयसुन्दरी ने शीघ्र कपाट खोल दिया और उसने मन्त्री को पहचान लिया । वहाँ से श्री ऋषभ देव के मन्दिर में आकर नाव के चलने के समय से लेकर समुद्र के बीच गिरने तक का समाचार उसने कह सुनाया । तब सौभाग्यसुन्दरी ने भी किवाड़ों को खोल डाले । फिर वहाँ से मन्त्री वेश्या के घर पर आकर फलक (पट्टी) लेकर समुद्र पार होने से आरम्भ कर उसे गंभीरपुर में पहुँचना, रहने की जगह को ढूँढ़ना और भोजन लेने के लिए नगर के बीच आने तक हाल कह सुनाया। तब उस तीसरी रत्नसुन्दरी ने भी मन्त्री को पहचान कर किवाड़ उघाड़ डाले । फिर उन तीनों स्त्रियों ने अपना-अपना हाल कह सुनाया । फिर राजा ने भी खुश होकर अपना आधा राज्य और अपनी शीलसुन्दरी नाम की लड़की मन्त्री को देकर आश्चर्य के साथ पूछा- आप समुद्र में किस तरह गिर गये ? मैं तो आप में बड़ी चतुराई देखता हूँ । इसलिए मैं ऐसी उमीद करता हूँ कि- किसी छली दुष्ट ने आप को गिरा दिया होगा । अब, आप अपना सच्चा हाल कह सुनाइए, जिसको सुन-समझकर मैं उस दण्डनीय व्यक्ति को दण्ड (सजा) दूंगा, जिससे आगे कोई दूसरा भी दुष्टात्मा इस तरह का खराब काम नहीं करेगा । राजा की ऐसी बात सुनकर दयालु मन्त्री कुछ चुप होकर बोला - हे राजन् ! मैं अपनी असावधानी (लापरवाही) से गिर गया । क्योंकि, बड़ों की कोई बुराई भी करता है तो वे उसकी अच्छाई ही करते हैं ।

यतः-

कहा भी है -

सुजनो न याति विकृतिं, परहितनिरतो विनाशकालेऽपि ।
छेदेऽपि चन्दनतरुः, सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥७२॥

दूसरों की भलाई करनेवाला सज्जन अपने विनाश काल में भी बिगड़ते नहीं, क्योंकि चन्दन का झाड़ अपने काटने वाले कुल्हाड़ी के मुख (धार) को सुगन्धित (खुशबूदार) कर देता है ।।७२।।

ततो राज्ञात्याग्रहेणाभिहितं-यद् भूतं वृत्तं तत्सर्वं त्वया वक्तव्यमेव भविष्यतीत्यादि बह्वाग्रहिकं राज्ञो वचनं निशम्य मनसि तु कथनस्य भावो नासीत्तथाप्यतीवाग्रहतो मन्त्रिणा किञ्चिन्मात्रमेव सागरदत्तश्रेष्ठिवृत्तं राज्ञे निवेदितं, परं राज्ञा तु स्वल्पोक्तेनैव बुद्धिकौशल्यात्सर्वं ज्ञातम् । तदनु तदिभ्यानाचारानीत्यादिकार्यतो भृशं क्रोधातुरेण राज्ञा तत्क्षण एव श्रेष्ठिनमाहूयोक्तं- रे दुष्ट ! परधनस्त्रीलोलुपेन सता त्वयैवंविधानि घोरपातकानि क्रियन्ते । एवं बहुधा निन्दानिर्भर्त्सनादिधिक्कारवाग्भिर्निर्भर्त्स्य तत्सकाशान्मन्त्रिधनं मन्त्रिणे प्रदापितम्। ततोऽन्यायकारिणे तस्मै चौरदण्डं दातुं लग्नस्तदा दयालुनाऽमात्येन नृपतिपादयोर्लगित्वोक्तम्-हे राजन्नेष मे महोपकारी, एतत्प्रभावेणैवात्र भवत्पार्श्वे समेत्य यद्भवदीयाङ्गजा मया परिणीताऽयं सर्वोऽप्यस्यैव प्रभावः । इत्याद्युक्त्वा स जीवन्मोचितः, कुतो महतामिमान्येव लक्षणानि ।

फिर राजा ने अत्यन्त आग्रह पूर्वक कहा- जो कुछ पहले हो गया है, वह आप को कहना ही पड़ेगा, इत्यादि अधिक आग्रह से युक्त राजा की बात सुनकर मन में कहने की इच्छा न होने पर भी राजा के अत्यन्त आग्रह से मन्त्री ने सागरदत्त सेठ की थोड़ी सी बात कह सुनाई, परन्तु

राजा ने तो थोड़ा कहने से ही अपनी बुद्धि की कुशलता से सारा हाल समझ लिया । उसके बाद उस धनी पर अनाचार और अनीति आदि कार्य से बहुत क्रोधित होकर राजा ने उसी समय सेठ को बुलवाकर बोला- रे नीच, पराई स्त्री और धन का लोभी होकर तुम इस तरह भारी पाप करते हो । इस तरह अनेक प्रकार से निन्दा, भर्त्सना, धिक्कार आदि बातों से उसे फटकार कर उसके पास से मन्त्री का धन मन्त्री को दिलाया। फिर उस अन्यायकारी को राजा चोर का दण्ड देने लगा, तब दयालु मन्त्री राजा के पावों में पड़कर बोला- हे राजन् ! यह मेरा महान् उपकारी है। इसके प्रसाद से ही यहाँ आपके पास आकर जो आपकी लड़की से मैंने विवाह किया, यह सब इसका ही प्रसाद है । इत्यादि कहकर मन्त्री ने सेठ सागरदत्त को जिन्दा छोड़वा दिया । क्योंकि बड़ों के ये ही लक्षण हैं ।

तदुक्तं च-

कहा भी है -

चेतः सार्द्रतरं वचः सुमधुरं दृष्टिः प्रसन्नोज्ज्वला,
शक्तिः क्षान्तियुता मतिः श्रितनया श्रीर्दीनदैन्यापहा ।
रूपं शीलयुतं श्रुतं गतमदं स्वामित्यमुत्सेकता-
निर्मुक्तं प्रकटान्यहो! नयसुधाकुण्डान्यमून्युत्तमे ।।७३।।

अहा ! उत्तम पुरुष में नौ अमृत के कुण्ड प्रत्यक्ष हैं, दया से पिघला हुआ हृदय, सुन्दर वचन, प्रसन्नता युक्त दृष्टि, क्षमता (सहनशीलता) युक्त शक्ति, नीतियुक्त बुद्धि, दुःखी-दरिद्रों के दैन्य निवारण के लिए लक्ष्मी, सदाचार युक्त रूप, घमण्ड रहित शास्त्र-ज्ञान, अभिमान रहित स्वामीपना ।।७३।।

अनेन कारणेन प्रत्युत सत्कारसम्मानदानपुरस्सरं मन्त्री

तं सागरदत्तश्रेष्ठिनं स्वस्थाने प्रेषयामास ।

अथ मन्त्री ताभिश्चतसृभिर्जायाभिः सह दोगुन्दुकदेव-वद्विषयसुखान्युपभुञ्जानस्तत्र कियन्ति दिनानि सुखेनास्थात् । अथैकदा पाश्चात्यरात्रौ स धर्मबुद्धिर्मन्त्री नित्यधर्मकर्मसाधनाय जागरितः सन् सुभावेन तद्विधाय पश्चान्मनसि विचारयामास- अथ श्वशुरालये संतिष्ठमानस्य मे बहूनि दिनानि व्यतीयुः । अतःपरमत्र निवासो मे गर्हणीयो हास्यहेतुर्लोकविरुद्धापमान-निलयश्चात एवायुक्तोऽस्ति ।

इस कारण से, बल्कि आदर-सत्कारपूर्वक कुछ देकर मन्त्रीने उस सागरदत्त सेठ को अपने स्थान में भेज दिया । अनन्तर मन्त्री उन चारों स्त्रियों के साथ 'दोगुन्दुक' देवता की तरह विषय-सुख (भोग-विलास) को भोगते हुए वहाँ कितने दिनोंतक सुखपूर्वक रहा । अब, एक समय रात के पिछले पहर में (ब्राह्ममुहूर्त्त में) वह धर्मबुद्धि नित्य के धर्म-कर्म करने के लिए जागकर शौच आदि क्रिया करके पीछे मन में विचार ने लगा- अब, ससुर के घर में रहते हुए मुझे बहुत दिन बीत चुके । इसके आगे यहाँ मेरा रहना अच्छा नहीं है, उपहास का कारण है और मान की जगह उलटा अपमान का घर है, इसलिए यहाँ रहना ठीक नहीं है ।

यतः- क्योंकि -

श्वशुरगृहनिवासः स्वर्गतुल्यो नराणां,
यदि वसति विवेकी पञ्चषड्वासराणि ।
दधिगुडघृतलोभान्मासयुग्मं वसेच्चेत्,
स भवति खरतुल्यो मानवो मानहीनः ॥७४॥

मनुष्यों को श्वसुर के घर (ससुराल) में रहना स्वर्ग के समान

है, मगर थोड़े ही दिनोंतक, इसलिए यदि कोई बुद्धिमान ससुराल में रहता है तो पांच या छः दिनोंतक ही रहता है, अगर दही, गुड़, घी-दूध, शक्कर आदि के लालच से दो मास वहाँ रह जाय तो वह व्यक्ति मान से रहित होकर गधे के समान हो जाता है ।।७४।।

तथा च-

और भी -

हविर्विना रविर्यातो, विना पीठेन केसरः ।
कदन्नात्पुण्डरीकाख्यो, गलहस्तेन घोघरः ।।७५।।

हवन के बिना रवि नामक व्यक्ति चला गया, पीढ़ा के बिना केसर चला गया, कदन्न (मोटा अन्न) खाने से पुण्डरीक चला गया और गरदनियाँ देने से 'घोघर' चला गया ।।७५।।

यहाँ कथानक इस प्रकार है कि- एक व्यक्ति के चार जमाई थे, चारों के क्रमशः रवि, केसर, पुण्डरीक और घोघर नाम थे । चारों का अलग अलग यह खास नियम था । रवि बाबू बिना हवन किये नहीं जीमते थे, केसर बाबू को भोजन करने के लिए बढ़ियाँ पीढ़ा (काठ का आसन) चाहिए, पुण्डरीक बाबू को बिलकुल महीन खुश-बूदार दाने भोजन के लिए चाहिए और चौथा घोघर पेटू और धृष्ट था, उसे किसी तरह पेट भरने को चाहिए ।

ये चारों के चारों एक ही दिन अपने ससुर के घर पर आ गये। पांच-सात दिनों तक तो ससुर-शाले आदि ने उनका उचित सत्कार किया, उनके नियमित हवन, पीठ आदि दान पूर्वक सुन्दर खान-पान का व्यवहार किया । कुछ अधिक दिन होने पर भी इन जमाईयों के नहीं जाने पर ससुराल वाले ऊब गये और ऊब कर एक दिन रवि

बाबू को हवन करने की सामग्री नहीं दी, अतः समझदार रवि बाबू कुछ रूष्टता लिये हुए उसी दिन अपने घर चले गये । दूसरे दिन केसर बाबू को बिना पीढ़ा के ही भोजन दिया गया, अतः नाराज होकर बेचारे केसर बाबू भी अपने घर उसी दिन चले गये । तीसरे दिन पुण्डरीक बाबू को मोटा अधजला खाना दिया गया, अतः वे भी अपना सा मुंह लेकर उसी दिन वहाँ से चलते बने, फिर चौथे दिन घोघर बाबू जब इन तीनों की हालत देखकर भी नहीं जा रहे थे, तो ससुराल वालों ने समझ लिया कि यह महा धृष्ट है, अतः उनको गरदनियाँ (गले में हाथ) देकर वहाँ से भगा दिया ।

इत्यादि विचार्य पुनर्मत्प्रतिज्ञापि सम्यक् पूर्णाऽजन्यतो मया प्रातः श्वशुरादेशं समभिगृह्य स्वदेशं प्रति गन्तव्यमेव । ततो निशानन्तरं प्रातःकाले मन्त्री स्वविचारानुकूलमखिलं विधाय ततोऽर्द्धराज्यसम्पत्तिं स्त्रीचतुष्टयं चादाय हयगजरथपत्त्यादिभिर्वारिधिपूर इव पापबुद्धिनामानं राजानं पराभवितुं श्रीपुरं नगरं प्रति चलितः । मार्गे समागच्छन् राजसमूहैरुपहारपूर्वकं वन्द्यमानः पूज्यमानश्चानुक्रमेण श्रीपुरनगरसमीपे समागतवान् । एवं तमागच्छन्तं विज्ञाय पूर्लोका व्याकुलाः समजायन्त, राजापि परचक्रमागतं विदित्वा प्राकारं सज्जीकृत्यान्तः स्थितः । अथ मन्त्रिणा सन्ध्याकाले पापबुद्धिराजस्यान्तिके दूतः प्रेषितः स कीदृशः ।

इत्यादि विचारकर फिर मेरी प्रतिज्ञा भी पूरी हुई, इसलिए, मुझे सुबह में स्वसुर की आज्ञा लेकर अपने देश जाना ही चाहिए । फिर रात बीतने के बाद सुबह में मन्त्री अपने विचार के अनुसार सारा काम करके

वहाँ से आधे राज्य की सम्पत्ति और चारों स्त्रियों को लेकर हाथी-घोड़े-रथ-सिपाही आदि से समुद्र की बढ़ाव (बाढ़-ज्वार भाठा) की तरह पापबुद्धि नाम के राजा को हराने के लिए श्रीपुर नगर को चला। मार्ग में आते हुए उसको अनेक राजा ने भेंट देकर नमस्कार कर पूजा की, इस तरह क्रमशः मन्त्री श्रीपुर नगर के समीप आ गया। इस तरह उसको आते हुए जानकर नगर के लोग व्याकुल हो गये। राजा भी दूसरे की सेना को आयी हुई जानकर किले की मरम्मत कर किले के अन्दर बैठ गया। तब मन्त्री ने संध्या काल में पापबुद्धि राजा के पास अपना एक दूत भेजा। वह दूत कैसा था।

यथा- जैसे -

मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः, परचित्तोपलक्षकः।
धीरो यथोक्तवादी च, एष दूतो विधीयते ॥७६॥

बुद्धिमान्, बोलने में चतुर, विद्वान्, दूसरे के हृदय की बातों को पहचान ने वाला, धीर और यथार्थवादी, ऐसा दूत होना चाहिए (वह दूत ऐसा ही था।) ॥७६॥

सोऽप्यागत्याद्भुतवाण्या तमेवं जगाद- अये राजन् ! महाप्रतापवान्मेऽधिपतिस्तदग्रे न कोऽपि शक्तिशाली स्थातुं शक्तोऽतः प्रतिदिनं तस्य तेजोऽधिकत्वं यातीति जाने न कयापि जनन्यैतत्समोऽन्यो जगति प्रसूतः। यस्तस्योक्तं नाङ्गीकरोति तस्य हिमानीव वनखण्डं समस्तं राज्यादिकं दहति। क ईदृग्योद्धाऽस्ति यस्तस्य प्रतापं सहेत ? येन मत्स्वामिनोऽग्रे गर्वः कृतस्तस्य सर्वोऽपि गर्वस्तेन प्रभञ्जितः। कः कृष्णभुजङ्गं सिंहं चाऽऽलिङ्ग्य स्वमूढतां दर्शयेत् ? अत एव त्वया तत्र गत्वा तेन

साकं सन्धिरेव विधेयः । अन्यथा योद्धव्यं, इत्थमेव स्वामिना समादिष्टोऽस्मि च तत्त्वत्समीपेऽहं वच्मि। एतद्यदि युद्धं ते प्रमाणं तर्हि रणभूमौ गन्तव्यमेव, अन्यथा तृणं दन्ताग्रे निवेश्य पुराद्बहिर्निर्गन्तव्यम् । एवं दूतोक्तमाकर्ण्य कृतभ्रुकुटिललाटो रक्तीकृतनेत्रः श्रीपुराधीशः पापबुद्धिनृपो जगाद–क्षत्रियोऽहमस्मि मरणं त्वेकवारमस्त्येवेति कथमहं सर्वं प्राक्तनं यशो विनाशं नयामि ? । अतो हे दूतेश ! यथाग्नौ शलभः स्वयमेव निपत्य विनश्यति, तथा ते स्वामिनाप्ययं स्वयमेव मृतिपटहो वादितः । तस्मात्कथमेष कुशलपूर्वकं स्वगृहं समेष्यति ? अरे ! गच्छ शीघ्रं स्वस्वामिने निवेदय–यदि ते राजा रणार्थमुद्यतो रणभूमौ समागमनेच्छुः, पुनः सूर्योदयत एव रणकरणमर्यादा तेन ते स्वामिना स्थापितास्ति, तर्हि तस्य यद्बलवाहनं तत्सर्वं संगृह्य तेन त्वरितं समागन्तव्यं नात्र विलम्बः करणीयः। मया चैतानि गोपुराणि निशाकाले नगररक्षार्थं पिहितानि, प्रातरुद्घाट्य रणतूर्यवादनपूर्वकं तेन समं सम्यग् योत्स्ये। इत्थं पापबुद्धिराजवाक्यं निशम्य शीघ्रमेवागत्य दूतेन स सर्वोऽप्युदन्तो निजराजानं प्रति निगदितः। अथ पापबुद्धी राजा प्रातश्चतुरङ्गिणीं सेनां सज्जीकृत्य स्वपुराद्बहिर्निर्गतः, परं मार्गेऽपशकुनं जातं तथापि मदोन्मत्तस्स न तद्गणयामास, यतो गर्ववशेन कुपुरुषो जनैर्हास्ययोग्यं वृथा कार्यं किं न करोति ?

उस दूत ने भी आकर अद्भुत वाणी के द्वारा उस राजा को ऐसा कहा- हे राजन् ! मेरे मालिक बड़े प्रतापी है, उनके आगे कोई भी बलशाली टिक नहीं सकता, इसलिए प्रति दिन उनका तेज बढ़ता जाता है, मैं यह जानता हूँ कि किसी भी माता ने इनके समान दूसरा लड़का संसार

में पैदा नहीं किया । जो उनकी आज्ञा को नहीं अंगीकार करता है उसका सारा राज्य इस तरह जल जाता है जैसे भारी ओले (बरफ) वन को जला देते हैं । कौन ऐसा वीर है जो उनके प्रताप को सह सके ? जिसने मेरे स्वामी के आगे गर्व किया उसका सारा गर्व मेरे स्वामीने नष्ट कर दिया है। कौन कृष्णसर्प और सिंह को आलिंगन कर अपनी मूर्खता प्रदर्शित करेगा? इसलिए आप वहाँ जाकर उनसे संधि कर ले । नहीं तो युद्ध के लिए तैयार हो जाना । ऐसा ही हुक्म दिया है और वही आपके पास बोलने को आया हूँ । यह युद्ध यदि आपको मंजूर है तो लड़ाई के मैदान में जाना ही है, नामंजूर हो तो दांतों के तले तिनका रखकर नगर से बाहर हो जाना चाहिए । इस तरह दूत की बात को सुनकर कमान चढ़ाकर लाल-लाल आखें करके श्रीपुर का स्वामी पापबुद्धि राजा बोला - मैं क्षत्रिय हूँ, मरना तो एकबार है ही, इसलिए पहले के सारे यश का विनाश कैसे करूँ ? इसलिए हे दूतवर ! जैसे अग्नि में पतंगा अपने आप ही गिरकर विनाश हो जाता है, उसी तरह तुम्हारे स्वामी ने भी यह मरने का ढिंढ़ोरा खुद ही पिटवा दिया है । इसलिए वह किस तरह कुशल पूर्वक अपने घर को जा सकता है ? अरे ! तुम जाओ और अपने मालिक को शीघ्र कह दो- यदि तुम्हारा राजा युद्ध करने के लिए तैयार होकर संग्राम भूमि में आने की इच्छा करता है तो फिर सूर्योदय समय से ही युद्ध करने की बात तुम्हारे स्वामी ने निर्णित कर दी है । इसलिए उसके पास जितना दलबल हो, वह सब लेकर उसे तुरंत आ जाना चाहिए, इसमें देर नहीं करनी चाहिए । मैंने ये नगर के दरवाजे संध्या काल में नगर की रक्षा के लिए बन्द करवा दिये थे, सुबह में दरवाजे खोलकर युद्ध के बाजे-गाजे के साथ तुम्हारे स्वामी के साथ अच्छी तरह लडूंगा । इस तरह पापबुद्धि राजा की बात सुनकर दूत ने शीघ्र आकर वह सारा हाल अपने राजा को सुना दिया ।

फिर पापबुद्धि राजा सुबह में चतुरंगिणी सेना तैयार कर अपने नगर से बाहर निकला, किन्तु मार्ग में अपशकुन हो गया फिर भी गर्व से मतवाले उसने नहीं गिना, क्योंकि घमण्ड के अधीन होकर खराब आदमी लोगों के द्वारा मजाक उड़ाने लायक बेकार काम क्या नहीं करते ?

यतः- क्योंकि -

उत्क्षिप्य टिट्टिभः पाद-मास्ते भङ्गभयाद्भुवः ।
स्वचित्तकल्पितो गर्वः, क्याङ्गिनां नोपयुज्यते? ॥७७॥

पृथिवी के टूक-टूक हो जाने के भय से टिहिरी (एक पक्षी) अपने पांव को ऊपर करके ही रहता है । प्राणियों के अपने मन में आरोपण किया हुआ गर्व कहाँ स्थित नहीं है ? ॥७७॥

तथा च-

और भी -

विषभारसहस्रेण, वासुकिर्नैव गर्जति ।
वृश्चिकस्तृणमात्रेणा-प्यूर्ध्वं वहति कण्टकम् ॥७८॥

हजार गुने विष के बोझ से भी वासुकि (सर्पराज) गर्जना नहीं करता, किन्तु बिच्छू जरा सा विष को धारण करने से भी अपने ऊपर कांटा रखता है ॥७८॥

ततो यत्र मन्त्रिसैन्यमवस्थितं तत्र सोऽपि गतोऽविलम्बेनैव, यतोऽहङ्कार्येवं नैव विचारयति।यथा-

फिर जहाँ मन्त्री की सेना ठहरी थी, वहाँ वह भी शीघ्र ही चला गया, क्योंकि- अहंकारी ऐसा विचार नहीं करता है- जैसे-

बलिभ्यो बलिनः सन्ति, वादिभ्यः सन्ति वादिनः ।

धनिभ्यो धनिनः सन्ति, तस्माद्दर्पं त्यजेद् बुधः ॥७९॥

इस संसार में बली से भी बली हैं, विद्वान् से भी विद्वान् हैं तथा धनी से भी धनी हैं, इसलिए बुद्धिमान को चाहिए कि वह अपने बड़प्पन का गर्व छोड़ दे ॥७९॥

अथ मध्ये रणस्तम्भमारोप्य भटाः प्रतिभटा अन्योन्यमभिमुखीबभूवुः, रणतौर्यत्रिकं च वादितम् । तदनन्तरं महाशूरताभिमानेन ते उभये युद्धमारेभिरे । तद्यथा–हस्तिभिर्हस्तिनः, वाजिभिर्वाजिनः, पत्तिभिः पत्तयो, रथिभी रथिनो, नालगोलिभिर्नालगोलिनः संघट्टितास्तेनोच्छलिता रजोराजिरादित्यं निस्तेजसं चकार । हस्तिनश्च तत्र वारिवाहा इव जगर्ज्जुः, विद्युत्पाता इव कृपाणप्रहारा जाताः, शिलीमुखाश्च जलधारा इवाऽवर्षन्, जलप्रवाह इव रक्तप्रवाहः प्रससार, तत्र रणसंमुखे ये कातरास्ते सर्वेऽपि निस्तेजसः सन्तो वर्षाकाल इन्द्रयवा इव पर्यशुष्यन्, रक्तपातेन सकर्दमा मही च संजाता। रजःपूरेणाऽम्बरं प्रच्छादितं, तदा किमयं वर्षाकाल आगत इति लोकाः संशयं चक्रुः ? । ये सुभटास्ते सिंहनादं कुर्वन्ति स्म, तेनाऽन्यजनकृतः शब्दो न श्रूयते स्म । या निर्नायका अप्सरसस्ताः सर्वा अपि नाथमभिलषन्त्यो विमान आसीनास्तत्र समाजग्मुः, यतो रणे मृतानां स्वर्गोत्पत्तिरित्युक्तत्वात् । रोषाऽतिशयेनैवं युद्ध्यमानास्ते पापबुद्धिसुभटा मतिसागरसुभटैरन्ते त्वरितमेव पराजिताः । ततः पापबुद्धी राजा च तत्सुभटगणमध्य एव बद्धः ।

अथ मन्त्री राजानं प्रति पृच्छति स्म–किं भवान्मामुपलक्षयति ? तदा राजा कथयति स्म–भास्करमिव तेजस्विनं भवन्तं को न जानाति ?, ततः पुनर्मन्त्री कथयति स्म–एतदहं नो

पृच्छामि किन्तु कोऽस्म्यहमिति पृच्छामि, तदा राजा नाहं जानामीति प्रत्युवाच ।

ततः सचिवेनोक्तं श्रूयताम्- हे राजन् ! सोऽहं धर्मबुद्धिनामा भवन्मन्त्री विदेशात्परावृत्य धर्मफलप्रदर्शनार्थं भवदग्रे समागतोऽस्मि। पुनर्मन्त्री साञ्जलिरूचे- हे राजन् ! कथय धर्मो निरन्तरं सत्फल-दायकोऽस्ति न वेति ? दृश्यताम्-धर्मत एव निखिललक्ष्मीलाभः सर्वा आशा च मे परिपूर्णा जाता । एवं द्वितीयवारमपि विदेशे गत्वा धर्मफलं प्रदर्श्य तेन मन्त्रिणा स राजा जैनधर्मे दृढीकृत-स्ततस्तेन नृपेणापि दुर्गतिदायकमधर्मं पापपाशकमपनीय भवा-ब्धितरणतारणतरिरूपा जिनाज्ञैव सहर्षमङ्गीकृता, तत्क्षण एव मन्त्रिणा बन्धनान्मुक्तो राजा हर्षतौर्यत्रिकं तत्र सम्यगवीवदत् ।

अहो ! कथम्भूतमिदमाश्चर्यजनकं मन्त्रिणः सौजन्यं, यद्राज्ञो धर्मिकरणाय देशान्तरं गतः । नानाविधानि दुःखानि च समव-लोकितानि, परमवसाने तु तेन राजानं धर्मिणं विधायैव मुक्तः । एवंभूतस्वभाववन्तः परोपकारिणः सज्जना अस्मिन् लोके विरला एव भवन्ति ।

अनन्तर बीच में रण का खंभा गाड़कर दोनों पक्ष के योद्धा परस्पर आमने सामने हो गये और युद्ध के बाजे बजवा दिये । उसके बाद वे दोनों सेनाएँ महान् बल के घमण्ड से युद्ध शुरु करने लगीं, जैसे- हाथी-हाथियों के साथ, घोड़े घोड़ों के साथ, पैदल पैदलों के साथ, रथ सवार रथ सवारों के साथ, नाल-गोली वाले नाल-गोली वालों के साथ भिड़ गये । उससे उड़ती हुई धूली की ढेर से सूर्य ढक गया । वहाँ हाथी बादल की तरह गरजते थे, बिजली गिरने की तरह तलवार की धारें गिर

ने लगी और बाणों की वर्षा जल धारा की तरह बरसने लगी। झरने की तरह रक्त का बहाव फैल गया। वहाँ रण में जो कायर थे, वे सब ऐसे थर्रा (सहम) गये जैसे वर्षाकाल में इन्द्र जौ सूख जाते हैं। अधिक खून गिर ने से पृथिवी पंकिल (कीचड़ वाली) हो गयी। धूलियों के बढ़ाव से आकाश ढक गया, उस समय क्या यह वर्षा काल आ गया ? लोग इस तरह शक करने लगे। जो अच्छे लड़वैये थे वे शेर की तरह गर्जना करते थे, उस घोर शब्द से दूसरे का शब्द सुनाई नहीं देता था। बिना पति वाली स्वर्ग की अप्सराएँ अपने-अपने पति को चाहती हुई विमान पर बैठी हुई वहाँ आ गयी, क्योंकि युद्ध में मरने वालों को स्वर्ग में उत्पत्ति होती है, ऐसा (अजैन) शास्त्रों में कहा हुआ है। अत्यन्त क्रोध से युद्ध करते हुए पापबुद्धि के सुभट लोग धर्मबुद्धि के सुभटों (वीरों) द्वारा पराजित हो गये। फिर पापबुद्धि राजा उन सुभटों के बीच में बाँध लिये गये। उसके बाद मन्त्री राजा को पूछने लगा- क्या आप मुझे पहचानते हैं ? तब राजा कहने लगा- सूर्य के समान तेजस्वी (प्रतापी) आप को कौन नहीं जानता ? फिर मन्त्री ने कहा- यह मैं नहीं पूछता हूँ, लेकिन मैं कौन हूँ, यह पूछता हूँ। तब राजा ने कहा कि मैं नहीं जानता हूँ। फिर मन्त्री ने कहा कि सुनिए- हे राजन् ! मैं वही धर्मबुद्धि नाम का आपका मन्त्री विदेश से लौटकर धर्म फल दिखलाने के लिए आप के आगे आ गया हूँ। फिर मन्त्री ने हाथ जोड़कर कहा- हे राजन् ! अब तो आप कहें कि धर्म निरन्तर अच्छा फल देने वाला है या नहीं ? धर्म से ही सारी सम्पत्ति की प्राप्ति और मेरी सारी कामनाएँ पूरी हुई।

इस तरह दुबारा भी विदेश में जाकर उस मन्त्री ने उस राजा को जैन धर्म में पक्का कर दिया, फिर उस राजा ने भी दूःख देने वाले अधर्म को- पाप रूपी फाँस को छोड़कर संसार-सागर से पार करने वाली नौका

रूपी जिनेश्वर की आज्ञा को ही सहर्ष स्वीकार की। उसी समय में ही मन्त्री ने राजा को बन्धन से मुक्त कर दिया और हर्ष के नगाड़े वहाँ बजवा दिये।

अहा ! मन्त्री का यह सौजन्य (भलमनसाई) कैसा आश्चर्य जनक रहा, जो राजा को धर्मात्मा बनाने के लिए दूसरे देश में चला गया। अनेक तरह के दुःख देखे, लेकिन अन्त में तो उसने राजा को धर्मात्मा बना कर ही छोड़ा। इस तरह के परोपकारी स्वभाव वाले सज्जन इस लोक में विरले (थोड़े) ही होते हैं।

उक्तं च-

कहा भी है -

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने ॥८०॥

प्रत्येक पर्वत पर रत्न नहीं होता, हरेक हाथी में मुक्ता नहीं होती, सभी जगह सज्जन नहीं होते और हरेक जंगल में चन्दन नहीं होता है ॥८०॥

अन्यदपि -

और भी-

उपकर्तुं प्रियं वक्तुं, कर्तुं स्नेहमकृत्रिमम् ।
सज्जनानां स्वभावोऽयं, केनेन्दुः शिशिरीकृतः? ॥८१॥

सज्जनों का यह स्वभाव है कि दूसरे की भलाई करना, मीठा बोलना और अकृत्रिम प्रेम करना, क्योंकि चन्द्रमा को किसने शीतल (आह्लादक) किया ? ॥८१॥

तथा च-

और भी -

अपेक्षन्ते न च स्नेहं, न पात्रं न दशान्तरम् ।
सदा लोकहितासक्ता रत्नदीपा इवोत्तमाः ॥८२॥

अच्छे लोग (सज्जन) रत्न और दीप के समान परोपकार में लगे रहते हैं, वे प्रेम की अपेक्षा नहीं रखते, न पात्र की अपेक्षा रखते हैं और न दूसरी हालतों (अवस्थाओं) की ही अपेक्षा रखते हैं।।८२।।

ततस्तयोः परस्परं परममैत्री संजाता, अत एव सम्यक्तया द्वावपि धर्मध्यानमेकमनसौ सन्तौ चक्रतुः । पुनस्तत्रैव नगरे सुखेन तौ राज्यं पालयामासतुः ।

अथ कियता कालेन केवलज्ञानिनं सन्मुनिं वनपालमुखादुपवने समवसृतं श्रुत्वा नृपसचिवादयस्तस्य वन्दनार्थं समागताः। तत्र केवलिमुनिनाप्येवं संसारार्णवतारिणी विषयकषायमोहाज्ञानतिमिरविदारिणी धर्मदेशना प्रारब्धा ।

फिर मन्त्री और राजा दोनों में परस्पर उत्तम मैत्री हो गयी, इसलिए वे दोनों अच्छी तरह एक मन होकर धर्मध्यान करने लगे । फिर उसी नगर में वे दोनों सुख पूर्वक राज्य करने लगे । फिर कुछ दिन के बाद वन पालक के मुख से उपवन में उतरे हुए केवल ज्ञानी मुनि को सुनकर राजा, मन्त्री आदि उनको वन्दना करने के लिए वहाँ गये । वहाँ केवलज्ञानी भगवंत ने भी संसार-सागर से तारने वाली विषय-कषाय-मोह अज्ञान रूपी अन्धकार को नाश करने वाली धर्म-देशना प्रारम्भ कर दी ।

यथा- जैसे -

त्रैकाल्यं जिनपूजनं प्रतिदिनं सङ्घस्य संमाननं,

स्वाध्यायो गुरुसेवनं च विधिना दानं तथाऽऽवश्यकम् ।
शक्त्या च व्रतपालनं वरतपो ज्ञानस्य पाठस्तथा,
सैष श्रावकपुङ्गवस्य कथितो धर्मो जिनेन्द्रागमे ॥८३॥

तीनों काल में भगवान जिनेन्द्र की पूजा, प्रति दिन संघ का सम्मान, स्वाध्याय और गुरु की सेवा तथा विधिपूर्वक आवश्यक (सामायिक-संध्यावन्दन) और दान एवं शक्ति के अनुसार व्रत का पालन, अच्छा तप और ज्ञान का पाठ, यह श्रेष्ठ श्रावक का धर्म जिनागम में कहा गया है ।।८३।।

अपि च-

और भी -

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः? ॥८४॥

जब तक यह शरीर स्वस्थ है और जब तक बुढ़ापा दूर है, एवं जब तक ठीक ठीक इन्द्रियों की शक्ति है और जब तक आयु क्षय नहीं हुई है, तभी तक विद्वान् बुद्धिमान् को आत्म-कल्याण में महान् प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि- घर में आग लग जाने पर उस समय में कुआँ खोदने का उद्योग कैसा ? ।।८४।।

पुनर्हे भव्याः ? कालोऽयमनादिकालतोऽनन्तप्राणिनो भक्षयन्नपि कदाचित्सौहित्यमलभमानोऽद्यपर्यन्तमपि संसारे प्रतिक्षणं प्राणिनामायुष्यं हरति ।

और फिर, हे भव्यलोको ! यह काल अनादि काल से अनन्त-

प्राणियों को भक्षण करता हुआ कभी भी सुतृप्ति को नहीं प्राप्त होता हुआ आज तक भी संसार में प्रतिक्षण प्राणियों की आयु हरता है ।

यतः- क्योंकि -

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्द्धं गतं,
तस्यार्द्धस्य कदाचिदर्धमधिकं वृद्धत्यबाल्ये गतम् ।
शेषं व्याधिवियोगशोकमदनासेवादिभिर्नीयते ।
देहे वारितरङ्गचञ्चलतरे धर्मः कुतः प्राणिनाम्? ॥८५॥

मनुष्य की आयु वर्तमान में सौ वर्ष की साधारणतः मानी गयी, आधी रातों में ही बीत जाती है, उस आधे की आधी कभी कम-ज्यादा बचपन और बुढ़ापा में बीतती है और बाकी चौथाई या कुछ कम-ज्यादा आयु रोग, वियोग, शोक और विषय-वासना-सुख आदि में बीतती है और यह शरीर जल तरङ्ग की तरह चञ्चल (अस्थिर) है, फिर प्राणियों को धर्म कहाँ से हो ? ।।८५।।

तस्य कालस्याऽग्रे तीर्थङ्करचक्रवर्तिबलदेववासुदेव-प्रतिवासुदेवादिसर्वशक्तिमद्देवानामपि बलं न प्रचलति ।

उस काल के आगे तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि और सर्व शक्तिमान् देवताओं का भी बल नहीं चलता है ।

यतः- क्योंकि -

नो विद्या न च भेषजं न च पिता नो बान्धवा नो सुताः,
नाभीष्टा कुलदेवता न जननी स्नेहानुबन्धान्विताः ।
नार्था न स्वजनो न वा परिजनः शारीरिकं नो बलं,
नो शक्ताः श्वशुरः स्वसा सुरवराः सन्धातुमायुर्ध्रुवम् ॥८६॥

न विद्या, न औषध और न माता-पिता, न भाई-बन्धु, न लड़के-लड़की, न अपने अभीष्ट कुल देवता और न मित्र वर्ग, न धन, न अपना नौकर-चाकर और न पड़ोसी, न शरीर का बल, न श्वसुर, न बहिन और न बड़े देव अर्थात् कोई भी आयु को जोड़ (बढ़ा) नहीं सकते ।।८६।।

अतोऽयं महतो महानुभावानपि प्राणिनो भक्षयति । पुनस्तदग्रेऽन्येषां पामरप्राणिनां का गणना ?

इसलिए यह विकराल काल महापुरुषों के महान् प्राणों को भी भक्षण कर डालता है, फिर दूसरे पामर प्राणियों की कथा ही क्या ?

तदुक्तं च-

कहा भी है -

ये पातालनिवासिनोऽसुरगणा ये स्वैरिणो व्यन्तराः,
ये ज्योतिष्कविमानवासिविबुधास्तारान्तचन्द्रादयः ।
सौधर्मादिसुरालये सुरगणा ये चापि वैमानिका-
स्ते सर्वेऽपि कृतान्तवासमवशा गच्छन्ति किं शोच्यते? ।।८७।।

जो पाताल-निवासी असुर-गण हैं, जो स्वेच्छाचारी व्यंतर है, जो ज्योतिष्क विमान वासी देव हैं, तथा ताराओं से लेकर चन्द्रमा तक, एवं सौधर्म आदि देव लोक में जो वैमानिक देव-गण है, वे सब भी विवश होकर यमराज के घर में जाते हैं (मृत्यु को प्राप्त होते हैं) फिर शोच (मरना है तो डरना) क्या ? ।।८७।।

अपि च -

और भी -

दिव्यज्ञानयुता जगत्त्रयनुताः शौर्यान्विताः सत्कृताः,
देवेन्द्राः सुरयून्दयन्द्यचरणाः सद्विक्रमाश्चक्रिणः ।
यैकुण्ठा बलशालिनो हलधरा ये रायणाद्याः परे,
ते कीनाशमुखं विशन्त्यशरणा यद्वा न लङ्घ्यो विधिः ।।८८।।

दिव्यज्ञान से युक्त तीनों लोक से नमस्कृत, बड़े वीर, सत्कार पाये हुए, देवों के समुदाय से वन्दित चरण, इन्द्र और अच्छे पराक्रम वाले चक्रवर्ती, अप्रतिहत बलशाली बलदेव और जो दूसरे रावणादिक प्रतिवासुदेव हो गये हैं, वे सब भी यमराज (मृत्यु) के मुख में अशरण (असहाय) होकर घुसते हैं, अथवा (वास्तव में) भावी को कोई लांघ नहीं सकता ।।८८।।

अस्मिन्काले समागते सर्वोत्तमा अपि निजसम्पदोऽत्रैवाऽवतिष्ठन्ते, पुनरेकाक्येव जीवः सर्वमपहाय परलोकमार्गे गच्छति।

मृत्यु का समय आने पर सर्व-श्रेष्ठ भी अपनी धन-दौलत यहीं रह जाती है, फिर जीव सब छोड़कर अकेला ही परलोक में जाता है ।

तदुक्तं च-

कहा भी है कि-

एतानि तानि नययौयनगर्यितानि,
मिष्टान्नपानशयनासनलालितानि ।
हारार्द्धहारमणिनूपुरमण्डितानि,
भूमौ लुठन्ति किल तानि कलेयराणि ।।८९।।

जिन सजीव शरीरों ने एक दिन चढ़ती जवानी की उमंगों में गर्वीले होकर मिष्टान्न खाये, मीठा, सुगन्ध और शीतल जल पान

किये, मुलायम बिस्तरों पर सोये और सुन्दर चिकने आसनों पर बैंठे तथा खुब मौज उड़ाये, बड़े और छोटे सुवर्ण के हारों और मणियों से तथा नूपुर (पाँवजेब) से अपने को सुशोभित किये, हाय ! प्राण-पंखेरू उड़ने पर आज वे ही शरीर भूमि पर लोट रहे हैं ।।८६।।

अपि च-

और भी -

चेतोहरा युवतयः स्वजनोऽनुकूलः,
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः ।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः,
सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति ॥९०॥

चित्त को चुराने वाली युवतियाँ, अनुकुल आचरण करने वाले अपने परिवार के लोग, अच्छे सगे-संबन्धी, प्रेम-पूर्वक मीठे बोलने वाले नौकर-चाकर, गरजते हुए हाथियों के झुण्ड और खूब वेग (चाल) वाले घोड़े, ये सब आँखें मुंद जाने (मरने) पर कुछ नहीं हैं ।।९०।।

पुनरप्यस्मिन्संसारे कतिपयेऽज्ञाः सुखं मत्वा संतिष्ठन्ते, परं शोकचिन्तादुःखादिदोषपरिपूर्णेऽत्र संसारे किं किमपि सुख-मस्ति ? ।

फिर भी इस संसार में कितने मूर्ख सुख मानकर रहते हैं, लेकिन शोक, चिन्ता, दुःख आदि दोषों से पूर्ण इस संसार में क्या कुछ भी सुख है?

यतः-

क्योंकि -

दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिहभवे गर्भवासे नराणां,
बालत्वे चापि दुःखं मललुलितवपुःस्त्रीपयःपानमिश्रम् ।
तारुण्ये चाऽपि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः,
संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥९१॥

पहले इस जन्म में माता की कुक्षि में गर्भ में रहने से दुःख होता है, फिर बचपन में पेशाब-टट्टी से लिपटाया हुआ शरीर और माता के दूध पीने का दुःख रहता है, फिर जवानी में स्त्री-वियोग-जनित दुःख होता है और बुढ़ापे में तो कुछ सार ही नहीं है, इसलिए हे लोगो ! बोलो तो सही कि- संसार में जरा सा भी सुख है ?।।९१।।

अन्यदपि -

और भी -

निर्द्रव्यो धनचिन्तया धनपतिस्तद्रक्षणे चाकुलो,
निःस्त्रीकस्तदुपायसङ्गतमतिः श्रीमानपत्येच्छया ।
प्राप्तस्तान्यखिलान्यपीह सततं रोगैः पराभूयते,
जीवः कोऽपि कथञ्चनाऽपि नियतं प्रायः सदा दुःखितः॥९२॥

निर्धन धन की चिन्ता से और धनी उसकी रक्षा में व्याकुल रहता है, बिना स्त्री का स्त्री-प्राप्ति के लिए और स्त्रीवाला सन्तान के लिए प्रायः बेचैन रहता है, कदाचित् इन चीजों को मिलने पर भी प्राणी सर्वदा रोगों से पीड़ित रहता है, वास्तव में कोई भी जीव किसी तरह भी निश्चय करके प्रायः सदा दुःखी ही रहता है ।।९२।।

तथा च-

और भी -

दारिद्र्याकुलचेतसां सुतसुताभार्यादिचिन्ताजुषां,
नित्यं दुर्भरदेहपोषणकृते रात्रिंदिवं खिद्यताम् ।
राजाज्ञाप्रतिपालनोद्यतधियां विश्राममुक्तात्मनां,
सर्वोपद्रवशङ्किनामघभृतां धिग्देहिनां जीवनम् ॥९३॥

गरीबी से व्याकुल-चित्त वाले, लड़का-लड़की-स्त्री आदि की चिन्ताओं से युक्त और प्रति दिन हैरानी से देह के पालन-पोषण के लिए दिन-रात खेद पाने वाले, राजा की आज्ञा को पालन करने में सतर्क रहने वाले, आराम से रहित जीवों के, सभी तरह उपद्रव की शंका करने वाले पापी प्राणियों के जीवन को धिक्कार है ॥९३॥

पुनरत्र वृद्धावस्थायां स्वार्थं विना स्ववल्लभास्तनयादयोऽप्यवज्ञां कुर्वन्ति, तदपि महत्कष्टमेव जनो भजति ।

फिर, यहाँ बुढ़ापे में अपने मतलब के बिना अपनी स्त्री और लड़के आदि भी अनादर करते हैं, वह भी महान् कष्ट ही है, जिसे लोग भोगते हैं ।

उक्तं च-

कहा भी है -

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गताः,
दृष्टिर्भ्रश्यति वर्द्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते ।
धिक् कष्टं जरयाभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥९४॥

शरीर सिकुड़ गया, चलने-फिरने की शक्ति भी बहुत कमजोर पड़ गयी, दाँत टूट गये, आँखों की रोशनी कम हो गयी,

बहरापन बढ़ने लगा और मुंह से लारें टपक पड़ती हैं, सगे-संबन्धी कहा हुआ नहीं करते और स्त्री भी सेवा नहीं करती, ऐसे बुढ़ापे से पीड़ित पुरुषों को धिक्कार है । हाय ! और इससे अधिक कष्ट क्या है कि प्रायः उसका पुत्र भी अनादर करता है ।।९४।।

ततो भो भव्यप्राणिनः ! यूयं भवभ्रमणहेतुं मिथ्यात्वभ्रमं परित्यजत ।

इसलिए हे भव्य प्राणियो ! तुम लोग संसार में जन्म-मरण लेने का कारण मिथ्यात्व-संदेह को छोड़ दो ।

यतः- क्योंकि -

मिथ्यात्वं परमो रोगो, मिथ्यात्वं परमं विषम् ।
मिथ्यात्वं परमं शत्रु-र्मिथ्यात्वं परमं तमः ।।९५।।

मिथ्यात्व महान् रोग है, मिथ्यात्व महान् विष है, मिथ्यात्व भारी दुश्मन है और मिथ्यात्व घोर अन्धकार है ।।६५।।

अन्यच्चः -

और भी -

जन्मन्येकत्र दुःखाय, रोगः सर्पो रिपुर्विषम् ।
अपि जन्मसहस्रेषु, मिथ्यात्वमचिकित्सितम् ।।९६।।

रोग, सर्प, शत्रु और विष ये एक जन्म में ही दुःख दायक है, लेकिन हजार जन्मों में भी मिथ्यात्व (असत्य धर्म) अचिकित्सिव (ला इलाज) है ।।९६।।

अतः सर्वसंपद्धेतुकं स्वर्गापवर्गभवनैककारणमिहापि सर्व-सौख्यप्रदायकमेवंविधं सम्यक्त्वं भजत ।

इसलिए सब संपत्ति का कारण, स्वर्ग और मोक्ष होने का एक कारण, यहाँ भी सभी सुखों को देने वाले सम्यक्त्व की सेवा करो ।

यतः- क्योंकि-

मूलं बोधिद्रुमस्यैतद्, द्वारं पुण्यपुरस्य च ।
पीठं निर्वाणहर्म्यस्य, निधानं सर्वसंपदाम् ॥९७॥

यह (सम्यक्त्व) ज्ञानरूपी वृक्ष है, पुण्य-नगर में जाने के लिए दरवाजा है, मोक्षरूपी महल में बैंठने के लिए आसन-पलंग है और सारी सम्पत्तियों का खजाना है ।।९७।।

तथा च-
और भी -

गुणानामेक आधारो, रत्नानामिव सागरः ।
पात्रं चारित्रवित्तस्य, सम्यक्त्वं श्लाघ्यते न कैः? ॥९८॥

जैसे सभी रत्नों का आधार समुद्र है वैसे सम्यक्त्व सारे गुणों का आधार है और चारित्र रूपी धन का पात्र है, अतः सम्यक्त्व की तारीफ कौन नहीं करता ? ।।९८।।

एवंभूतं सम्यक्त्वमङ्गीकृत्य देवगुरुधर्मान् सम्यक् सुषेव्य च शिवसुखं भवन्तः साधयन्तु । विषयविकारानपनीयाणुव्रतादीन् द्वादशव्रतानङ्गीकुरुत यत एष एव मुक्तेः शुद्धपथः । पुनर्यः प्राणी प्रेम्णा पञ्चमहाव्रतं परिपालयति, स तु भवान्तं विधायोत्तमां मोक्षगतिं प्राप्नोति। येन प्राणी रागद्वेषादिकर्मशत्रून्विजित्य शाश्वतीं मोक्ष-श्रीलीलामाप्नोति, एवं द्विविधो धर्मः पूर्वैः सुज्ञानिपुरुषोत्तमैः प्रतिपादितः। पापेन च दुःखमेव भवति, अतोऽधर्मं परित्यजत । ये

खलु पापरागिणस्तेऽधमां गतिं यास्यन्ति । पुनर्ये पापिनस्ते दुःखनिलया भूत्वाऽनन्तकालं भवे भ्रमिष्यन्ति । अत एव ये भव्याः सम्यक् परीक्ष्य धर्ममाश्रयिष्यन्ति ते भवसागरतीरं लब्ध्वा शिवलक्ष्मीं वरिष्यन्त्येव यतः प्राणिनां धर्म एव सर्वसुखखनिः, धर्मेण हि सुरसम्पदो भवन्ति । अतो धरायां सारभूतं धर्मं ज्ञात्वा यथाविधि त्वरितं तं निषेवध्वम् ।

ऐसे सम्यक्त्व (सच्चा धर्म) को अंगीकार कर और देव-गुरु-धर्म की अच्छी तरह सेवा कर आप लोग परम सुख-शान्ति (मोक्ष) की साधना करें । विषय-वासना के विकारों को छोड़कर अणुव्रत आदि बारह व्रतों को स्वीकार करें, क्योंकि यही रास्ता संसार से (जन्म-मरण आदि क्लेश से) छुटकारा पाने के लिए सीधा रास्ता है । फिर जो प्राणी प्रेम से पंच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) को अच्छी तरह निभाता है, वह संसार (जन्म-मरण-जनित-दुःख) को खत्म करके मोक्ष को प्राप्त होता है । और जिस सम्यक्त्व से प्राणी राग-द्वेष-आदिक कर्म-शत्रु को जीतकर शाश्वती (निरन्तर रहनेवाली) मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त होता है । इस तरह उत्तम ज्ञानवाले पूर्वाचार्यों ने दो प्रकार के धर्म बतलाये हैं । और पाप से दुःख ही होता है, इसलिए अधर्म को छोड़ दीजिए । जो कोई पाप के रागी हैं, वे नीच गति को जाते हैं और जो पापी हैं वे दुःखों के घर होकर बहुत समय तक संसार में भटकते रहेंगे और जो भव्य (श्रद्धालु धार्मिक) अच्छी तरह परीक्षा करके धर्म की शरण लेंगे, वे संसार-सागर को पार कर मोक्ष-लक्ष्मी को अवश्य वरेंगे, क्योंकि प्राणियों के सारे सुखों की खान धर्म ही है, धर्म से दैवी सम्पत्तियाँ होती है । इसलिए पृथिवी में धर्म को सर्वश्रेष्ठ जानकर यथोचित रूप से शीघ्र सम्यक्त्व की सेवा करें ।

यतः- क्योंकि -

विलम्बो नैव कर्तव्यः, आयुर्याति दिने दिने ।
न करोति यमः क्षान्तिं, धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥१९९॥

दिन-दिन आयु क्षीण होती जा रही है, अतः सद्धर्म-आराधन में देर नहीं करनी चाहिए, मौत किसी को माफी नहीं देती, धर्म की गति तीव्र होती है, अतः धर्माचरण में शीघ्रता करनी चाहिए ।।१९९।।

पुनरनेकभययुतं भोगादिकं सर्वं परित्यज्य निर्भयं परमसारभूतं वैराग्यधर्ममेव भजध्वम् ।

और अनेक भय से युक्त भोग आदि सब को छोड़कर निर्भय होकर सर्वश्रेष्ठ वैराग्य धर्म का ही सेवन किया करें ।

यतः- क्योंकि -

भोगे रोगभयं सुखे क्षयभयं वित्तेऽग्निभूभृद्भयं,
माने म्लानिभयं जये रिपुभयं वंशे कुयोषिद्भयम् ।
दास्ये स्वामिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं,
सर्वं नाम भयं भवेदिह नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥२००॥

भोग में रोग का, सुख में क्षय का, धन में राजा और अग्नि का, मान में म्लानि का, जय में शत्रु का, वंश में खराब स्त्री का, सेवा में स्वामी का, गुण में खल का, शरीर में मृत्यु का भय है, यानी मनुष्यों को इस संसार में सभी जगह भय ही है, परन्तु एक वैराग्य ही अभय है ।।२००।।

भो भव्याः ! बहूक्तेन किम् ? परभवे सुखोपलब्धये धर्मसंबलं गृह्णन्तु, यतोऽत्रापि संबलं विना कोऽपि नरः कदापि पन्थानं नो गच्छति, तर्हि दीर्घादृष्टपरलोकमार्गस्यात्रैव संबलं किन्न गृहीत-

व्यम् ? यतो ग्रामान्तरं गच्छतः कुत्रापि पाथेयं मिलति, परत्र गन्तुस्तु नैव ।

हे भव्य लोको ! अधिक कहने से क्या ? दूसरे जन्म में सुख-प्राप्ति के लिए धर्म-रूप संबल ग्रहण करो, क्योंकि यहाँ भी कोई भी व्यक्ति बिना मार्ग-खर्चे के कभी भी मुसाफिरी नहीं करता तो फिर बहुत-लम्बे और अदृष्ट परलोक के मुसाफिरी का खर्चा (सत्य धर्म) यहीं क्यों नहीं ले लेते, क्योंकि और दूसरे ग्राम में जाने वालों को रास्ते में कहीं (बस्ती में) कुछ खर्चा मिल भी जाता है, परन्तु परलोक में जाने वालों को तो नहीं मिलता है ।

यतः- क्योंकि -

ग्रामान्तरे विहितसंबलकः प्रयाति,
सर्वोऽपि लोक इह रूढिरिति प्रसिद्धा ।
मूढस्तु दीर्घपरलोकपथप्रयाणे,
पाथेयमात्रमपि नैव च लात्यधन्यः ॥१॥

प्रायः सभी लोग दूसरे दूर गाँव में जब जाते हैं, तब कुछ न कुछ रास्ते का खर्चा अवश्य लेकर जाते हैं, यह बात लोक में प्रसिद्ध है, किन्तु बहुत से महा मूर्ख अभागे परलोक गमन लम्बी मुसाफिरी के लिए थोड़ा भी मार्ग-खर्चा (सद्धर्म-सम्यक्त्व-सम्यक् धर्म) ग्रहण नहीं करते ।।१।।

इति केवलिनो धर्मदेशनाश्रवणानन्तरं सर्वे सभासदः केवलिनमभिवन्द्य यथाशक्ति नियमव्रतानि च स्वीकृत्य स्वस्वस्थानं प्रति जग्मुः ।

ततो राज्ञा पृष्टम्- हे भगवन् ! मया पूर्वभवे किं कर्म

कृतं? येन मे धर्मोऽत्र नाभीष्टो जातः, चानेन सचिवेन कीदृशं कर्म कृतं ? येनेदृशी महती समृद्धिः पदे पदे प्राप्ता । ततः केवली प्राह– हे राजन् ! युवयोः पूर्वभवसंबन्धिनिखिलवृत्तान्तो मया निगद्यते, अतः सावधानत्वेन शृणुताम् –

युवां पूर्वभवे सुन्दरपुरन्दरनामानौ भ्रातरावेवाभवताम् । सुन्दरस्तु मिथ्यात्वमोहितत्वादज्ञानकष्टकर्ता तापसो जातस्तत्र वनस्पतिच्छेदनभेदनजलक्रीडादिदुष्कर्मणा पुनर्भृशं मिथ्यामतिसङ्गं प्राप्याज्ञानतपसा च सर्वाणीन्द्रियाणि वशीचकार । अङ्गारधानिकां शुष्कगोमयं वनफलपुष्पाणि मृत्तिकां विभूतिं च प्रत्यहमुपयुज्य जटाधरोऽवधूतोऽभूत् । ऊर्ध्वबाहुस्तथैवाधोमुखो भूत्वाऽज्ञानतपसा पञ्चाग्नीन् साधयति स्म । मौनमेव सदा रक्षति स्म, पुनर्भवान् केशांश्च वर्धयति स्म, कन्दमूलानि संभक्ष्य संभक्ष्य कायं कृशीकरोति स्म। षट्कायजीवान् विराधयति स्म, दया तु न कदापि हृदये धारयति स्म, शौचधर्ममहर्निशं समाद्रियते स्म । एवं मिथ्यात्वानुबन्धिनीं पापक्रियां समाचरन्नायुषः क्षये मृत्वाज्ञानतपसोऽनुभावादयं त्वं पापबुद्धिनामा राजाऽभूः । पुनः पुरन्दरस्तु जैनसाधुसङ्गत्या तदुपदेशानुसारेण जिनप्रासादं कारयितुं प्रारम्भं कृतवान्, अर्द्धनिष्पन्ने च जिनप्रासादे तेनैवंविधः संशयः कृतो यन्मया सहस्रशो द्रव्यव्ययं कृत्वा प्रासादं कारयितुं प्रारब्धमस्ति, परमेतन्निर्मापणेन मे किमपि फलं भविष्यति न वेति संशयकरणानन्तरं पुनस्तेन चिन्तितम्– हा ! मया व्यलीकं ध्यातम्, यतो देवनिमित्तं कृतं कार्यं कदापि निष्फलं न यातीति मे प्रासादनिर्मापणफलं भविष्यत्येवेति विचिन्त्य तेन नैर्मल्यपूर्णभावेन तं जिनप्रासादं

समाप्य ततः कस्यचिद् ज्ञानवतः सद्गुरोः सन्निधौ महोत्सवपूर्वकं बहुद्रव्यव्ययेन साञ्जनशलाकां प्रतिष्ठां विधाय जिनबिम्बानि स्थापितानि । तथैवान्यमपि श्रीजैनधर्मोन्नतिजिनप्रासादबिम्ब-प्रतिष्ठातीर्थयात्रागुरुभक्तिसाधर्मिकवात्सल्यपौषधशाला-नेकदीनदानादिबहुविधं धर्मं कृत्वा, ततोऽन्ते निजायुषःक्षये स पुरन्दरजीवस्तु सुखसमाधिना मृत्वा ते समृद्धिमान् धर्मबुद्धिनामा मन्त्री जातः, एवं येन यादृशानि कर्माणि कृतानि तेन तादृशान्येवाऽत्र फलानि प्राप्तानि। अथ जिनदीक्षां गृहीत्वा सत्तपस्तप्त्वा केवल-ज्ञानमासाद्य, हे राजन् ! अस्मिन्नेव भवे युवां मोक्षं गमिष्यथः । अतो रोगशोकादिदौर्भाग्याणां हर्ता भवदुःखविनाशकः परमानन्द-दायकश्चैवंविधो धर्मः सहर्षं मोक्षार्थिप्राणिभिः सदैव कर्तव्यः ।

केवलमुनि की ऐसी धर्म-देशना सुनने के बाद सभा के सब लोग केवलीमुनि को वन्दना कर और यथाशक्ति नियम व्रतों को स्वीकारकर अपने अपने स्थान को चले गये ।

उसके बाद राजा ने पूछा- हे भगवन् ! मैंने पूर्व जन्म में कैसा कर्म किया है ? जिससे मुझे धर्म में रुचि नहीं हुई और इस मन्त्री ने कैसा कर्म किया है, जिससे इसको पद-पद में ऐसी सम्पत्ति मिली । तब केवली महाराज कहने लगे - हे राजन् ! तुम दोनों के पूर्व जन्म की सारी बात मैं कहता हूँ, सावधान होकर सुनो - तुम दोनों पूर्व जन्म में सुन्दर और पुरन्दर नाम के दो सगे भाई हुए । लेकिन सुन्दर मिथ्यात्व से मोहित होकर अज्ञानता से अपने शरीर को कष्ट देने वाला तापस हो गया, वहाँ वनस्पतिओं को काटने-छाटने और जल-क्रीड़ा आदि दुष्कर्म से फिर अधिक मिथ्या-बुद्धि को प्राप्त कर के अज्ञान तपस्या के बल से सभी

इन्द्रियों को वश कर लिया । सूखे छाण, आग की धुनी, वन के फल-फूल, मिट्टी और विभूत (भस्म) को प्रति दिन उपयोग में लाकर जटाधारी अवधूत (बाबा) बन गया । दोनों हाथ ऊपर और मुँह को नीचा कर अज्ञानता-जनित तपस्या के द्वारा पञ्चाग्नि (चारों ओर चार और एक बीच में जलती हुई अग्नि) को साधने लगा । हमेशा मौन रहने लगा, नाखून और बालों को बढ़ाने लगा । कन्द-मूल खा-खाकर शरीर को पतला करने लगा । छः काय-जीवों की विराधना करने लगा, दया को हृदय में कभी नहीं रखने लगा, स्नान आदि बाह्य शुद्धि को खूब करने लगा, इस तरह मिथ्यात्व में बाँधने वाली पाप-क्रियाओं का आचरण करता हुआ अंत में मरकर अज्ञान-तपस्या के बदौलत यह तुम पापबुद्धि नामक राजा हुए । और फिर सुन्दर जैन-साधुओं की संगति से उनके उपदेश के अनुसार जिन-मन्दिर करवाना शुरु किया, मन्दिर आधा तैयार हो जाने पर इसने ऐसी शंका की कि- मैंने जो हजारों रुपये खर्च करके जिन मन्दिर बनवाना आरम्भ किया है, उसके तैयार हो जाने पर मुझे कुछ भी फल मिलेगा या नहीं, इस तरह शक-सन्देह करता हुआ उसने फिर ऐसा विचार किया कि- हाय ! मैंने झूठी धारणा की क्योंकि देवता के निमित्त किया हुआ काम कभी निःफल नहीं होता, इसलिए मुझे मन्दिर बनवाने का फल मिलेगा ही, ऐसा विचारकर उसने निर्मल भाव से उस जिन मन्दिर को पूरा कर, फिर किसी ज्ञानी सद्‌गुरु के पास में महान उत्सव के साथ बहुत द्रव्य खर्चा कर अंजन शलाका के साथ प्रतिष्ठा करवा कर जिन-मूर्त्तियाँ स्थापित करवाईं। उसी तरह अन्य भी जिन धर्म की उन्नति में, जिन मन्दिर, बिम्बप्रतिष्ठा में, तीर्थ-यात्रा में, गुरु भक्ति में, स्वामी-वच्छल में, पौषधशाला में, दुःखियों को दान में इत्यादि अनेक धार्मिक कार्य कर फिर अन्त में अपनी आयु की समाप्ति में वह पुरन्दर का जीव सुख-समाधि पूर्वक मरकर तुम्हारा

सम्पत्तिशाली मन्त्री हुआ । इसी तरह जिसने यहाँ जैसा कर्म किया है, उसे वैसे ही फल मिलते हैं । अब, हे राजन् ! जिन-दीक्षा लेकर, अच्छी तपस्या के द्वारा केवलज्ञान को प्राप्त कर इसी जन्म में तुम दोनों मोक्ष में जाओगे । इसलिए रोग-शोक आदि दौर्भाग्य को दूर करने वाला संसार के दुःखों का विनाश करने वाला परम आनन्ददायक वास्तविक धर्म को मोक्ष के अभिलाषी प्राणियों को सर्वदा हर्षपूर्वक करना चाहिए ।

यतः- क्योंकि -

दीपो हन्ति तमःस्तोमं, रसो रोगमहाभरम् ।
सुधाबिन्दुर्विषावेगं, धर्मः पापभरं तथा ॥२॥

दीप भारी अँधेरे को नष्ट कर डालता है, रस (महामृत्युंजय-मकरध्वज आदि) बड़े बड़े रोगों को नेस्त-नाबूद कर देता है, जहर की बेजोड़ असर को अमृत की बूंद गायब कर देती है, उसी तरह पाप की ढेर को धर्म विनाश कर डालता है ।।२।।

सर्वाणि परमप्रभुतास्पदानि स्वर्गस्थानं शिवं सौभाग्यं चैतत्सर्वं भो भूपाल ! प्राणिना धर्मप्रसादेनैव लभ्यते । इत्थं केवलिनोपदिष्टं भववैराग्यजनकं स्वपूर्वभवं द्वावपि राजमन्त्रिणौ श्रुत्वा सुश्रावकद्वादशव्रतान्यङ्गीकृत्य तं केवलिनं सम्यक् शिरसा-भिनम्य परावृत्तौ, तदनु भव्याङ्गिनामुपकाराय स्वपदाम्बुजन्या-सैर्भूतलमलङ्कर्तुं केवल्यप्यन्यत्र विजहार ।

हे राजन् ! सभी बड़े-बड़े शक्तियों के स्थान, स्वर्ग, मोक्ष और उत्तम भाग्य-नशीब, ये सब लोगों को धर्म के प्रसाद से प्राप्त होते हैं । इस तरह केवली मुनि के द्वारा कहे हुए संसार से वैराग्य करने वाले अपने पूर्व जन्म को राजा और मन्त्री दोनों सुनकर अच्छे श्रावक के योग्य बारह व्रतों

को स्वीकार कर उस केवली महाराज को अच्छी तरह मस्तक नवा कर लौट आये। उसके पीछे भव्य प्राणियों के उपकार के लिए अपने चरण कमलों को रखने से भूतल सुशोभित करने के लिए केवली भंगवत ने भी दूसरी जगह विहार किया।

अथ राजा प्रधानश्च द्वावपि केवलिसमीपे गृहीतान् द्वादशव्रतान् निरतिचारं पालयन्तौ न्यायपूर्वकं राज्यं च कुर्वन्तौ सुखेन बहुकालं गमयतः स्म। अथान्यदा कस्यचिद् ज्ञानिगुरोः सकाशे राजमन्त्रिणौ सदुपदेशमुपलभ्य वैराग्यरागेण स्वात्मानमभिरज्य स्वस्वसुताय स्वस्वपदवीं समर्प्य दीक्षां गृहीत्वा ज्ञानतपस्तप्त्वा निरतिचारं चारित्रं सम्यक् परिपाल्य केवलज्ञानं चासाद्य मोक्षं जग्मतुः।

अत एव भो भव्यप्राणिनः! उभयलोके जयकारि धर्मफलं ज्ञात्वा पापमतिमपनीय तमनिशमेव त्रियोगेनाराधयत। मोक्षमार्गं च साधयत, सर्वदा शुद्धं श्रीजिनभाषितं जगज्ज्नतारकं दुर्गतिनिवारकं धर्मं धारयत। तेन युष्माकमपि राजमन्त्रिणोरिव कर्मभ्यो मोक्षो भविष्यति, पुनर्यो धर्मकर्माणि विधत्ते तस्याऽस्मिन्नपि भवे समस्तं वाञ्छितं भविष्यत्येव।

अनन्तर राजा और मन्त्री दोनों ने भी केवली के समीप में लिये हुए बारह व्रतों को अतिचार रहित पालन करते हुए और नीति पूर्वक राज्य करते हुए सुख से बहुत समय व्यतीत किया। फिर किसी समय किसी ज्ञानी गुरु के पास में अच्छा उपदेश पाकर वैराग्य-राग से अपनी आत्मा को अच्छी तरह रंगकर अपने-अपने पुत्रों को अपना-अपना पद देकर और स्वयं दीक्षा लेकर ज्ञान तप तपकर अतिचार-रहित चारित्र को

अच्छी तरह पालन कर और केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त हुए ।

इसलिए हे भव्य प्राणियों ! दोनों लोक में जय करने वाले धर्म फल को जानकर पापवाली बुद्धि को छोड़कर दिन-रात उस सद्धर्म की ही मन-वचन और काया से आराधना करो । मोक्ष-मार्ग की साधना करो, सर्वदा शुद्ध, जिनेन्द्र से कहा हुआ, संसार से जीव को तारने वाला और दुःखों को हटाने वाले सद्धर्म को धारण करो । इससे आप लोगों का भी राजा-मन्त्री की तरह मोक्ष हो जायगा और जो कोई अच्छा धर्म-कर्म करता है, उसकी भी इसी जन्म में सभी अभिलाषा पूरी हो जाती ही है ।

यतः- क्योंकि -

आरोग्यं सौभाग्यं, धनाढ्यता नायकत्यमानन्दाः ।
कृतपुण्यस्य स्यादिह, सदा जयो वाञ्छितावाप्तिः ॥३॥

पुण्य (धर्म) करने वालों को आरोग्य, सौभाग्य, धन-दौलत बड़प्पन-नेतृत्व आनन्द, जय और अभिलाषा की पूर्त्ति सर्वदा होती है ॥३॥

किं बहुना ? सर्वेषां प्राणिनां पुण्येनैव सर्वे मनोरथाः पूर्णा भवन्ति, अतो मिथ्यात्वं सांसारिकसर्वखेदं च परित्यज्य हृदि सन्तोषं निधाय सर्वेष्टदं पुण्यं कुरुत ।

अधिक क्या ? सभी प्राणियों की सारी मनः कामनाएँ पुण्य (सद्धर्म) से ही पूरी होती है; अतः, मिथ्यात्व को और सांसारिक सारे शोक को छोड़कर हृदय में सन्तोष रखकर सारे मनोवाञ्छित को देने चाले पुण्य (सद्धर्म) किया करो ।

उक्तं च-

कहा भी है -

रम्येषु वस्तुषु मनोहरतां गतेषु,
रे चित्त! खेदमुपयासि किमत्र चित्रम्? ।
पुण्यं कुरुष्व यदि तेषु तवाऽस्ति वाञ्छा,
पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः ॥४॥

रे मन ! चित्त को चुराने वाली सुन्दर चीजों को देखकर (और उसे नहीं पाकर) तुम दुःख पाते हो, तो इसमें आश्चर्य क्या ? दुःख होना ही चाहिए, मगर यदि उन सुन्दर-सुन्दर चीजों को पाने के लिए तुम्हारी इच्छा है, तो पुण्य किया करो, क्योंकि पुण्य के बिना मुरादे पूरी नहीं होती ॥४॥

पूर्वं सङ्कुचिता बहुत्रुटिगता या सान्यशास्त्रव्रजैः,
सद्युक्त्या निजया च पूर्वरचितै रासोद्भवैर्वर्णकैः ।
सङ्गृह्यात्र विवर्द्धिता विजयराजेन्द्रेण गच्छाधिपे-
नेयं कामघटस्य भव्यजनताबोधाप्तये सत्कथा ॥५॥

पहले यह "कामघट-कथानक" नाम का ग्रन्थ संकुचित (संक्षिप्त-छोटा) रूप में था और इसमें कई त्रुटियाँ थी, उसको गच्छाधिपति श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वर ने पूर्वाचार्य रचित प्रासंगिक समुपयुक्त सुन्दर शब्द-अर्थ-विभूषित अन्य शास्त्रों से और अपनी अच्छी युक्ति से संग्रह (इकट्ठा) कर के भावुक-जनता के बोध के लिए विशेष रूप में बढ़ाया ॥५॥

दीपविजयमुनिनाऽहं, गुलाबविजयेन शिष्ययुगलेन ।
विज्ञप्तो व्यतानिषं, कामघटकथामिमां रम्याम् ॥६॥

मुनि दीप विजय तथा मुनि गुलाब विजय, इन दोनों शिष्यों के

विशेष आग्रह से मैं (श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर)ने इस सुन्दर ''कामघट-कथानक'' का विस्तार किया ।।६।।

।। इति पापधर्मपरीक्षायां पापबुद्धी राजा धर्मबुद्धिश्च मन्त्री तत्सम्बन्धिनीयं कामघटकथा समाप्ता ।।

इस तरह पाप-पुण्य की परीक्षा में पापबुद्धि राजा और धर्मबुद्धि मन्त्री के सम्बन्ध में यह "कामघट कथानक" समाप्त हुआ ।।

श्लोककी अनुक्रमणिका

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
अकृतज्ञा असङ्ख्याताः,	६९	कवीनां प्रतिभाचक्षुः,	५१
अजिनपटलगूढं	२८	कश्चुम्बति कुलपुरुषः,	९०
अद्वेय य अद्वसया,	११५	काकस्य गात्रं यदि	६८
अनाज्यं भोज्यमप्राज्यं,	६	किमु कुवलयनेत्राः	१११
अपुष्यो कप्पतरू,	११४	किं किं न कयं को न	३३
अपेक्षन्ते न च स्नेहं,	१४६	किं किं न कृतं को न	३३
अमोघा वासरे विद्यु-	२१	कुग्रामवासः कुनरेन्द्रसेवा,	६
असम्भवं हेममृगस्य	१०८	कुलजातिविहीनानां,	१२०
आतुरे व्यसने प्राप्ते,	६३	कुलं च शीलं च	१२१
आदौ मज्जनचारुचीरतिलकं	८७	कुलं विश्वश्लाघ्यं	६६
आदौ रूपविनाशिनी	३२	कोह पइट्ठिओ देहधरि,	५६
आयुर्वर्षशतं नृणां	१४८	कोहो पीइं पणासेइ,	१०३
आयुष्यं यदि	२३	खट्वायां मत्कुणा भूमौ,	६
आरम्भाणां निवृत्तिर्द्रविणसफलता	३६	गते शोको न	१०९
आरोग्यं सौभाग्यं,	१६४	ग्रामान्तरे विहितसंबलकः	१५८
उत्क्षिप्य टिट्टिभः	१४१	गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता	१५३
उद्वाहे प्रथमो वरः	१	गीतं नादविनोदपण्डितगुणाः	४७
उद्यमः साहसं धैर्यं,	१७	गुणानामेक आधारो,	१५५
उपकर्तुं प्रियं वक्तुं,	१४५	गोधूमचूर्णं लवणेन मिश्रितं,	५९
ऊर्ध्वं त्रैभुवनं चतुर्गतिभवं	२४	घृतमब्धि जनेश्वर!	६०
ॐनमोऽखिलसिद्धेभ्यः,	१	चिन्तामणिः कामकुम्भः,	३०
एतानि तानि	१५०	चिन्तामणिं न गणयामि	२४
एसो मंगलनिलओ,	११३	चेतः सार्द्रतरं वचः	१३४
कदा किल भविष्यन्ति,	३९	चेतोहरा युवतयः	१५१
कर्पूरधूल्या रचितस्थलोऽपि,	१४	छट्ठेणं भत्तेणं,	३७
कल्पद्रुमस्तस्य गृहेऽवतीर्ण-	४०	छायामन्यस्य कुर्वन्ति,	७०
कलिः कलङ्कः	८३	जन्मन्येकत्र दुःखाय,	१५४

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
जन्ममृत्युजरारोग-	२३	धर्मतः सकलमङ्गलायली,	२
जाएण वि किं तेण,	३८	धर्माज्जन्म कुले	२
जात्यन्धाय च दुर्मुखाय	९१	धर्मादेव कुले जन्म,	६५
जानीयात्प्रेषणे भृत्यान्,	६३	धर्मोऽयं धनवल्लभेषु	३
जिणसासणस्स सारो,	११३	धर्मो जयति नाऽधर्मो,	९
जीवन्ति खग्गछिन्ना,	३४	द्यूतकारे नटे धूर्त्ते,	१२५
जैनो धर्मः प्रकटविभवः	४९	द्यूतं च मांसं च सुरा	५
जो गुणइ लक्खमेगं,	११५	न पश्यति हि	११०
तण लहुयं तुस लहुयं,	३१	नमस्कारसमो मन्त्रः,	३८
तस्माद्धर्मार्थिभिस्त्याज्यं,	९३	न यान्ति दास्यं न दरिद्रभावं,	२२
तत्र देशे हि गन्तव्यं,	१६	नयकारिक्क अक्खरो,	११४
तावद्धीरोऽतिवीरः	८६	न स प्रकारः	१०८
तृणं लघुकं तुषो लघुकः	३१	नहीदृशमनायुष्यं लोके	९३
दत्तस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो	८२	नात्यन्तं सरलैर्भाव्यं,	१२६
ददाति प्रतिगृह्णाति,	१०५	निर्दन्तः करटी हयो	२५
दधि भक्षय भूप!	६०	निर्द्रव्यो धनचिन्तया	१५२
दाणं मग्गणदव्वं,	७३	नो विद्या न च भेषजं	१४८
दारिद्र्याकुलचेतसां	१५३	प्रतिपच्चन्द्रं सुरभि-	६८
दाक्षिण्यं स्वजने	१२६	प्रहरे दिवसे जाते,	३३
दिव्यज्ञानयुता जगत्त्रयनुताः	१५०	प्राप्तं जन्मफलं जने	३०
दिवा पश्यति नो	११०	पण्डितेषु गुणाः	१००
दीपविजयमुनिनाऽहं,	१६५	पातालमाविशतु यातु	१०८
दीपो हन्ति तमःस्तोमं,	१६२	पापते जात रसातल	७
दीसंति खमावंता,	४६	पासा वेसा अग्गि	१०४
दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये	१५२	पिबन्ति नद्यः	७०
देव! त्वं दुःखदावाग्नि-	२३	पिब भूप! सुदुग्धमहो!	५९
देवदाणवगंधव्वा,	९५	पुंसां शिरोमणीयन्ते,	२६
धन्यानां ते नरा धन्या	२१	पूगीफलानि पत्राणि,	१००
धर्मश्चिन्तामणिः श्रेष्ठो,	२	पूर्वं सङ्कुचिता	१६५

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
ब्रह्मचारी मिताहारी,	४१	यात्रार्थं भोजनं येषां,	१४
बधिरक्लीबमूकानां,	१२०	ये पातालनियासिनोऽसुरगणा	१४९
बलिभ्यो बलिनः	१४१	'यौवनं धनसंपत्तिः,	८४
बायत्तरिकलाकुसला,	७४	रक्तत्यं कमलानां,	६८
बुभुक्षितः किं न करोति पापं?,	१८	रत्नानामिय रोहणः	४१
भक्खणे देवदव्यस्स,	९३	रम्येषु यस्तुषु	१६५
भद्रे! कासि सुराङ्गना	१२४	रम्यं रूपं करणपटुता-	६५
भोगे रोगभयं सुखे	१५७	रसाऽसृग्मांसमेदोऽस्थि-	२८
मदिराया गुणज्येष्ठा,	८५	रहिमन ये नर मर	३१
मानं मुञ्चति गौरयं	३२	राज्यं निःसचियं	५
माधुर्यं चेक्षुखण्डे	१५	राज्यं सुसंपदो भोगाः,	८
मायया हि महापापै-	१२५	राजा कुलयधूर्विप्रा,	७६
मिथ्यात्वं परमो रोगो,	१५४	राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः,	६६
मिथ्याम्बुलहरीधूतं,	२३	रुचिरकनकधाराः	३९
मिलति पुत्रकलत्रसुखप्रदः,	८	रूपयौवनसंपन्ना	९८
मित्रद्रोही कृतघ्नश्च,	१०४	लग्गो कोह-दयानलो,	५६
मूर्खनिर्धनदूरस्थ-	११९	लज्जा दया दमो धैर्यं,	८१
मूलं बोधिद्रुमस्यैतद्,	१५५	लज्जामुज्झति सेवते	१८
मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया,	११	लक्ष्मीः परोपकाराय,	४५
मेधायी याक्पटुः	१३८	यने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये,	२७
यत्कल्याणकरोऽयतारसमयः	५०	व्यसनशतगतानां	३
यद्वैरूप्यमनाथता	७	व्याघ्रव्यालजलानलादिविपदस्तेषां	१२९
यद्दुर्गामटयीमटन्ति	१०३	ययोवृद्धास्तपोवृद्धाः,	७२
यन्त्रमेको द्वयोर्मन्त्रं,	४२	यरं करीरो मरुमार्गयर्त्ती,	६९
यन्नागा मदयारिभिन्नकरटास्तिष्ठन्ति	८	यरं दरिद्रोऽपि	९९
यस्यास्ति वित्तं स नरः	७२	यस्त्रैर्यस्त्रयिभूतयः	२२
यायज्जीयेत्सुखं जीये-दृण	१०	यह्निस्तस्य जलायते	९६
यायत्स्यस्थमिदं	१४७	यापीयप्रयिहारयर्णयनिता	४
या यिचित्रयिटकोटिनिघृष्टा,	९०	विकलयति कलाकुशलं,	१११

श्लोक	पृष्ठ
विद्वत्त्वं च नृपत्वं च,	९८
विद्या नाम नरस्य	९९
विलम्बो नैव कर्तव्यः,	१५७
विषभारसहस्रेण,	१४१
शर्करासर्पिषा युक्तः,	१५
श्वशुरगृहनिवासः	१३५
शशिकान्तिसमुज्ज्वलशङ्खनिभं,	६०
श्रीतीर्थपान्थरजसा	३८
शीलं नाम नृणां	१२८
शीलं सर्वगुणौघमस्तकमणिः	१२८
शुभ्रं गोधूमचूर्णं घृतगुड-	५८
शूराश्च कृतविद्याश्च,	१०९
शैले शैले न	१४५
सत्ययाचि विभवः	२९
सदैवोत्पन्नभोक्तृणा-	१२०
सन्तापं तनुते भिनत्ति	५६
सहसा विदधीत न क्रिया-	५४
सामी सूराचार करि,	६३
साहसी लभते लक्ष्मीं,	१७
सीखेहो अलेख लेख	७४
सीलं उत्तमवित्तं,	९५
सुजनो न याति	१३३
सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः	४२
सुविसुद्धसीलजुत्तो,	९५
संग्रामसागरकरीन्द्रभुजङ्गसिंह-	१०७
संसारस्य त्वसारस्य,	२७
संसारे हयविहिणा,	८५
हर्त्तुर्याति न गोचरं	९९
हयिर्विना रयिर्यातो,	१३६
हस्ते नरकपालं ते,	१०४
हायो मुखविकारः स्याद्,	८९
हिङ्ग्वाजीरैर्मरीचैर्लवण-	५९
हिमशीतलनिर्मलकुम्भभृतं,	६१
हंसा रच्चन्ति सरे,	३५
त्रैकाल्यं जिनपूजनं	१४६
क्षीरेणात्मगतोदकाय	१०५
क्षुद्राः सन्ति सहस्रशः	७०
क्षुधे रण्डे! ब्रवीषि त्वं,	४७

ह्रीं

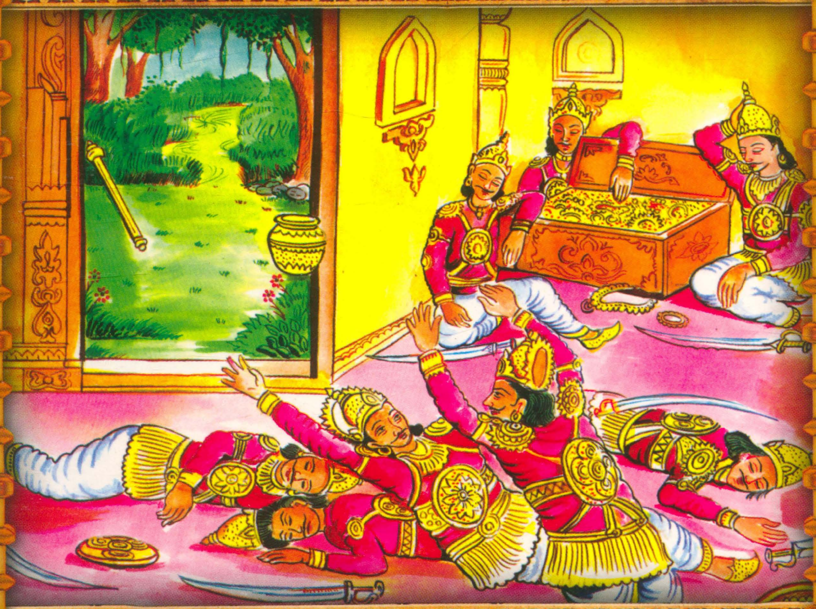

MULTY GRAPHICS
(022) 23873222 23884222